# नैतिक जीवन
# का
# सिद्धान्त

लेखक
जॉन ड्यूई
अनुवादक
कृष्णचन्द्र

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6

NAITIK JEEWAN KA SIDDHANT
(Hindi version of '*Theory of the Moral Life*,)
*by*
John Dewey
*Translated by*
Krishna Chandra
Rs. 5.00



प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6
शाखाएँ
हौज़ खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौड़ा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
नीलकंठ कालोनी, इन्दौर
महानगर, लखनऊ

प्रथम संस्करण : 1963
मूल्य : पाँच रुपए

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

# भूमिका[1]

## 1. परिभाषा और पद्धतियाँ

किसी विषय की सही और निर्दोष परिभाषा का स्थान उसके अध्ययन के प्रारम्भ के बजाय अन्त में होता है। किन्तु यदि उसकी कुछ संक्षिप्त परिभाषा प्रारम्भ में ही कर दी जाए तो उससे विषय के क्षेत्र को समझने में आसानी हो जाती है। नीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है और वह इस विषय पर विचार करता है कि कौन-सा आचरण सही है और कौन-सा ग़लत, कौन-सा आचरण अच्छा है और कौन-सा बुरा। इस प्रकार विवेच्य आचरण के लिए यदि एक शब्द का प्रयोग करना हो तो उसे 'नैतिक आचरण' या 'नैतिक जीवन' कहा जा सकता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र का उद्देश्य सही या ग़लत अथवा अच्छे या बुरे के दृष्टिकोण से आचरण के सम्बन्ध में हमारे निर्णयों का विधिवत् विवरण देना है।

अंग्रेज़ी के 'एथिक्स' (नीति-शास्त्र) और 'एथिकल' (नीतियुक्त) शब्द ग्रीक भाषा के 'एथोस' शब्द से निकले हैं जिसका अर्थ प्रारम्भ में रूढ़ियाँ और प्रथाएँ, विशेषतः ऐसी प्रथाएँ, था जो किसी विशिष्ट वर्ग में प्रचलित हों और अन्य वर्गों में प्रचलित न हों। बाद में इस शब्द का अर्थ स्वाभाविक प्रवृत्ति और चरित्र किया जाने लगा। इस प्रकार ये दोनों शब्द लैटिन के 'मौरल' और जर्मन भाषा के 'सिटलिख' शब्द के समान हैं जो क्रमशः 'मोरेज़' और 'सिटन' शब्दों से निकले हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, 'मौरल' और 'एथिकल' अर्थात् 'नैतिकता' का उद्भव रूढ़ियों (कस्टम), एथोस या मोर्स से हुआ। कारण, रूढ़ियाँ मनुष्य के काम के अभ्यासगत तरीके ही नहीं थीं, बल्कि वे ऐसे तरीके थे जो समुदाय या समाज द्वारा अनुमोदित भी थे। अपने समुदाय या वर्ग की रूढ़ि के विरुद्ध आचरण करने पर मनुष्य को कठोर भर्त्सना का पात्र बनना पड़ता था। यह सम्भव है कि यह अनुमोदन और भर्त्सना ठीक हम लोगों की भाँति मनुष्य के आचरण को सही और ग़लत या अच्छा और बुरा कहकर न किए जाते हों किन्तु तत्त्वतः उस समय के समाज का निन्दा और प्रशंसा का रुझान अवश्य यही था। आज जिस प्रकार इकानॉमिक्स (अर्थशास्त्र) का सम्बन्ध 'घर के प्रबन्ध' की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल समस्या से है, उसी प्रकार आज जब हम 'एथिकल' और 'मौरल' (नैतिक) शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उनका अर्थ पुराने 'एथोस' और 'मोर्स' शब्दों से अभि-

---

1. ड्यूई और टफ्ट की पुस्तक एथिक्स, पृष्ठ 3-5 और 6-9 से।

प्रेत आचरण की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और उन्नत जीवन-विधि होता है। किन्तु फिर भी यदि इन शब्दों से इस बात पर प्रकाश पड़ सके कि नैतिक जीवन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ तो ये शब्द हमारे लिए निश्चित रूप से मूल्यवान हैं।

आचरण के सम्बन्ध में हमारे निर्णयों का वैज्ञानिक विवरण देने का अर्थ है ऐसे सिद्धान्तों को खोजना जो इन निर्णयों के आधार हैं। आचरण या नैतिक जीवन के स्पष्टतः दो पहलू हैं। एक यह कि यह एक सोद्देश्य जीवन है। इसमें विचार और अनुभूति, आदर्श और प्रयोजन, मूल्यांकन और चयन अन्तर्निहित हैं। ये ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनका अध्ययन मनोवैज्ञानिक पद्धतियों से किया जा सकता है। दूसरी ओर आचरण का एक बाह्य पक्ष भी है। उसका प्रकृति से, और विशषकर मानवीय समाज से सम्बन्ध है। नैतिक जीवन के पीछे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कुछ आवश्यकताएँ प्रेरक तत्त्व के रूप में रहती हैं। जैसा कि प्रोटैगोरस ने पौराणिक गाथा के रूप में कहा है, देवताओं ने मनुष्यों को न्याय और आदर की भावना प्रदान की ताकि वे पारस्परिक रक्षा के लिए संगठित हो सकें।[1] और इसीलिए नैतिक जीवन का उद्देश्य प्राकृतिक और सामाजिक, दोनों प्रकार के परिवेश और परिस्थितियों को सुधारना और परिवर्तित करना एवं एक ऐसे 'मानव के राज्य' का निर्माण करना है जो एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था यानी 'ईश्वर का राज्य' भी हो। जीव-विज्ञान और सामाजिक विज्ञान प्रकृति और समाज के साथ मानव के इन सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, कानून और विधि-शास्त्र, का विशेषरूप से आचरण के इस पहलू के साथ ही सम्बन्ध है। आचार-शास्त्र जिस तरह आचरण के आन्तरिक पक्ष के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान का उपयोग करता है, उसी तरह उसे अपनी समस्या के बाह्य पहलू के अध्ययन के लिए इन शास्त्रों की विधियों और परिणामों का उपयोग करना चाहिए।

किन्तु आचारशास्त्र केवल इन विभिन्न विज्ञानों का जोड़ ही नहीं है। उसकी अपनी एक समस्या है जो जीवन और आचरण के इस द्विविध रूप से पैदा होती है। उसे इन दोनों पक्षों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना होता है। उसे जीवन और आचरण की आन्तरिक प्रक्रिया का अध्ययन करना और यह देखना होता है कि **किस प्रकार बाह्य परिस्थितियाँ आन्तरिक प्रक्रिया को निर्धारित करती हैं या किस प्रकार आन्तरिक प्रक्रिया बाह्य परिस्थितियों को परिवर्तित करती है।** इसी प्रकार उसे वाह्य व्यवहार या रूढ़ि का भी इस दृष्टि से अध्ययन करना होता है कि **किस प्रकार आन्तरिक प्रयोजन, इसे निर्धारित करता है या किस प्रकार वह आन्तरिक जीवन को प्रभावित करता है।** चयन और प्रयोजन का अध्ययन करना मनोविज्ञान का काम है। किन्तु मनुष्य के चयन पर दूसरों के अधिकारों का क्या प्रभाव पड़ता

1. प्लेटो, प्रोटैगोरस, पृष्ठ 320

है, इसका अध्ययन करना और इस पैमाने से सही या ग़लत का निर्णय करना आचारशास्त्र का कार्य है। इसी प्रकार किसी व्यावसायिक निगम का अध्ययन अर्थशास्त्र या समाजशास्त्र या विधिशास्त्र का कार्य हो सकता है; परन्तु उसकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करना, यह देखना कि किस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ व्यक्तियों के प्रयोजनों का परिणाम हैं या किस प्रकार वे जन-कल्याण को प्रभावित करती हैं, और इस दृष्टिकोण से उनके अच्छा या बुरा होने का निर्णय करना आचारशास्त्र के अन्तर्गत आता है...।

## 2. नैतिक विकास

जीवविज्ञानवेत्ता, मनोविज्ञानवेत्ता और समाजशास्त्री अभी तक इस बारे में एकमत नहीं हैं कि आनुवंशिकता, परिवेश और व्यक्ति के अपने चयन और आदतों का व्यक्ति के चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण में कितना हिस्सा होता है। इसी प्रकार जातियों और संस्कृतियों के इतिहास में जाति का, आर्थिक या अन्य सामाजिक तत्वों का और महापुरुषों का कितना महत्त्व है। इस बारे में मानव विज्ञान-वेत्ताओं, इतिहासविदों और इस जटिल समस्या के अन्य अध्ययन-कर्त्ताओं के अनुमान भिन्न-भिन्न हैं। अपने प्रयोजन के लिए हम यह मान लेंगे कि ये सभी तत्व नैतिक विकास में शामिल होते हैं, हालाँकि कभी-कभी यह निश्चय करना आसान और सुविधाजनक हो सकता है कि जब मनुष्य किसी वस्तु का चयन करता है, सोचता है, छाँटता है और आदतों और चरित्र का निर्माण करता है तब उसमें प्रकृति क्या योग देती है, समाज क्या योग देता है और व्यक्ति स्वयं अपने लिए क्या करता है।

हो सकता है कि हमें व्यवहार और आचरण के इन **तीन स्तरों** में भेद करना भी सुविधाजनक प्रतीत हो—(1) वह व्यवहार जो विभिन्न जीव वैज्ञानिक, आर्थिक या अन्य नैतिकेतर प्रेरणाओं या आवश्यकताओं (उदाहरणार्थ परिवार, जीवन और कार्य) से प्रेरित हो और फिर भी नैतिक आचरण के लिए महत्त्वपूर्ण हो; (2) वह व्यवहार या आचरण, जिसमें व्यक्ति अपने वर्ग की रूढ़ियों के रूप में विद्यमान पैमानों और तौर-तरीकों को अपेक्षाकृत कम आलोचनात्मक विचार-विमर्श से ही स्वीकार कर लेता है; और (3) वह आचरण जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने लिए सोचता और निर्णय करता है, यह विचार करता है कि अमुक प्रयोजन अच्छा है या बुरा और उसके बाद स्वयं निश्चय करके अपने लिए एक वस्तु का चयन करता है और बिना विचार-विमर्श के अपने वर्ग के पैमानों को स्वीकार नहीं करता।

यद्यपि नैतिक विकास की विभिन्न मंजिलों और उपादानों की एक स्पष्ट अव-धारणा बनाने के लिए इन स्तरों की अलग अध्ययन करना सुविधाजनक है, किन्तु यह याद रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कोई भी परिपक्व व्यक्ति पूर्णतः किसी एक

स्तर पर नहीं होता। हम सब लोग एक-न-एक परिवार में जन्म लेते हैं और उसके अंग होते हैं; हम सब ऐसी प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हैं जो हम में चिन्तन को विकसित करती हैं; हम सब लोग किसी सामाजिक वर्ग के सदस्य होते हैं और उसके पैमाने हमें अदृश्य रूप से एक साँचे में ढालते रहते हैं; और हम सभी कुछ अवसरों पर स्वयं अपने लिए सोचते और चयन करते हैं।

यदि नैतिक विकास के उपादानों और शक्तियों पर पृथक् विचार करने के बजाय हम यह देखें कि वृद्धि या विकास की प्रक्रिया आज एक बच्चे में किस प्रकार कार्य कर रही है और किस प्रकार वह कुछ हद तक उन लोगों के इतिहास में सक्रिय रही है जिनका यूरोप और अमेरिका के वर्तमान नैतिक जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है, तो हम उसे एक ऐसी प्रक्रिया कह सकते हैं जिसमें मनुष्य अधिक तार्किक, अधिक सामाजिक और अन्ततः अधिक नैतिक बन जाता है। हम इन सभी पहलुओं पर एक-एक कर संक्षेप में विचार करेंगे।

प्राणी की सबसे पहली आवश्यकता है जीवित रहना और बढ़ना। इसलिए उसके सर्वप्रथम आवेग और क्रिया-कलाप, आहार, आत्म-रक्षा और अन्य तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए होते हैं। आदिम मानव खाते, सोते, लड़ते, आश्रय-स्थल बनाते और अपनी सन्तानों को भोजन और रक्षा प्रदान करते हैं। तार्किकी-करण की प्रक्रिया का अर्थ सर्वप्रथम यह होगा कि इन्हीं सब आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बुद्धि का अधिक उपयोग किया जाए। यह प्रक्रिया दक्ष व्यवसायों में, उद्योग और व्यापार में और मनुष्य की शक्ति और सुख को बढ़ाने के लिए समस्त साधनों के उपयोग में अभिव्यक्त होगी। किन्तु आचरण के तार्किकीकरण का अर्थ उसमें नए उद्देश्यों का समावेश करना भी है। इस प्रक्रिया से सिर्फ मनुष्य अपनी वांछित वस्तु प्राप्त ही नहीं करता बल्कि इससे उसकी वांछित वस्तुएँ बदल भी जाती हैं। बाह्य रूप में यह प्रक्रिया, मनुष्य जो कुछ बनाता है, और जिस काम में अपने-आपको लगाता है, उसमें अभिव्यक्त होती है। इसमें सन्देह नहीं कि उसे भोजन और आश्रय मिलना चाहिए। किन्तु वह मन्दिर और मूर्तियाँ बनाता है और कविताएँ भी करता है। वह गाथाओं की रचना करता है और विश्व के सिद्धान्त बनाता है। वह व्यवसाय और शासन के बड़े-बड़े उद्यम करता है, और यह सब वह अपनी दैहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए उतना नहीं करता जितना कि शक्ति की वृद्धि को अनुभव करने के लिए। वह एक पारिवारिक जीवन की रचना करता है और उसे कला और धर्म के द्वारा ऊँचे स्तर पर उठाता है। वह केवल रोटी से पेट भरकर ही जीवित नहीं रहता, बल्कि आहिस्ता-आहिस्ता बुद्धि और तर्क के जीवन का निर्माण करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि प्रारम्भ में हम केवल वही चीज़ें चाहते हैं जो हमारा शरीर हमसे माँगता है, किन्तु जल्दी ही हम ऐसी चीज़ें भी चाहने लगते हैं जिनमें मन दिलचस्पी लेता है। जैसे-जैसे हम स्मृति, कल्पना और बुद्धि से अपने-आपको एक अधिक सतत,

## क्रम

# 1
# नैतिक सिद्धान्त का स्वरूप

## 1. विमर्शात्मक नैतिकता और नैतिक सिद्धान्त

रूढ़िजन्य नैतिकता और विमर्शात्मक नैतिकता के बीच बौद्धिक अन्तर बिलकुल स्पष्ट है। रूढ़िजन्य नैतिकता का पैमाना और आचार-नियमों का आधार व्यक्ति के पूर्वजों की आदतें होता है। किन्तु विमर्शात्मक नैतिकता मनुष्य के अन्तःकरण, तर्क-बुद्धि या किसी ऐसे सिद्धान्त पर आधृत होती है जिसमें विचार का भी समावेश होता है। इन दोनों प्रकार की नैतिकताओं का अन्तर जितना स्पष्ट है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है, क्योंकि वह नैतिकता के गुरुता-केन्द्र को ही बदल देता है। किन्तु फिर भी यह अन्तर सापेक्ष है, निरपेक्ष और पूर्ण नहीं। जो नैतिक प्रणालियाँ मुख्यतः सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों पर आधारित हैं, उनमें भी कभी-कभी कुछ हद तक विचार और विमर्श का स्थान रहा होगा। इसी प्रकार दूसरी ओर आज की वर्तमान नैतिक विचारधाराओं में, जबकि हर चीज को आलोचनात्मक दृष्टि से परखने और तोलने की आवश्यकता पर सबसे अधिक बल दिया जाता है, नैतिक आचरण के बहुत-से नियम सिर्फ इसलिए स्वीकार कर लिए जाते हैं कि समाज में उनका प्रचलन है। इसलिए आगे चलकर हम जो विवेचन करने जा रहे हैं उसमें हम विभिन्न ऐतिहासिक और सामाजिक युगों का वर्णन करने के बजाय रूढ़ि-जन्य और विमार्शात्मक नैतिकताओं में **सैद्धान्तिक** भेद पर बल देंगे। जब इबरानी धर्मप्रवर्त्तकों और यूनानी विचारकों ने कहा था कि कोई भी आचरण सम्बन्धी नियम तब तक सही अर्थों में सदाचरण नहीं हैं जब तक उनका उद्गम मनुष्य के हृदय से, उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं और आस्थाओं से या उसकी निजी अन्तर्दृष्टि और बुद्धियुक्त चयन से न हुआ हो, तब उनका यह कथन सिद्धान्ततः एक बहुत बड़ी क्रान्ति था।

इस परिवर्तन के क्रान्तिकारी होने का कारण सिर्फ यही नहीं था कि इसने रूढ़ि को उसके उच्चतम आसन से अपदस्थ कर दिया था, बल्कि उसका इससे भी बड़ा कारण यह था कि उसने मौजूदा रूढ़ियों और प्रथाओं को नये आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परखने की आवश्यकता पर बल दिया। परम्परा के अनुयायियों ने जिन पैमानों को कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का आधार स्वीकार किया था उनकी धर्मप्रवर्त्तकों और दार्शनिकों ने यह कहकर आलोचना और निन्दा की कि वास्तव में वे नैतिक भ्रष्टाचार के स्रोत हैं। इन लोगों ने नैतिकता के बाहरी परिपालन और आडम्बर के खोखलेपन को प्रकट किया और इस बात पर बल दिया कि किसी भी

वस्तुतः अच्छे आचरण के लिए हृदय और मन की शुद्धि आवश्यक शर्तें हैं।

ग्रीक विचारधारा एक दृष्टि से पश्चिमी जगत् के लिए बहुत अधिक दिलचस्पी की चीज है और वह यह कि वह स्पष्ट रूप में बताती है कि किस प्रकार रूढ़िगत आचरण से विमर्शपूर्ण आचरण की ओर प्रगति के लिए संघर्ष करना पड़ता है। उदाहरण के लिए प्लेटो के कथोपकथन में सुकरात को निरन्तर यह प्रश्न उठाते हुए प्रस्तुत किया जाता है कि क्या नैतिक आचरण की शिक्षा दी जा सकती है। इसी तरह उसमें किसी अन्य विचारक का (उदाहरण के लिए प्रोटैगोरस का इसी नाम के कथोपकथन में) भी प्रवेश कराया जाता है जो यह कहता है कि मौजूदा नैतिक परम्पराओं का अभ्यास वास्तव में शिक्षा देकर कराया जाता है। माता-पिता और अध्यापक बच्चों को निरन्तर चेतावनी देते रहते हैं कि "अमुक काम न्यायोचित है और अमुक अन्याय्य; अमुक सम्मानजनक है और अमुक असम्मानकारी; अमुक पवित्र और अमुक अपवित्र।" जब बच्चा माता-पिता द्वारा शिक्षण की आयु से ऊपर हो जाता है तो यह काम राज्य सँभाल लेता है, क्योंकि "समाज उन्हें कायदे-कानूनों को सीखने और अपनी इच्छा के बजाय उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करने के लिए मजबूर करता है।"

इसके उत्तर में सुकरात इस प्रकार की शिक्षा की बुनियादों का सवाल उठाता है; वह पूछता है कि क्या उसे धर्म की सच्ची शिक्षा कहलाने का अधिकार है और इस प्रकार वह एक ऐसी नैतिकता की आवश्कता की ओर संकेत करता है जो शाश्वत और सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधृत होने के कारण स्थायी और सुरक्षित हो। माता-पिताओं और अध्यापकों के विधि-निषेध अलग-अलग होते हैं; विभिन्न लोक-समाजों के नियम भी अलग-अलग होते हैं; और एक ही समाज समय और शासन के परिवर्तन से अपनी आदतें बदल लेता है। हम कैसे जानेंगे कि उनमें से कौन-सा शिक्षक, चाहे वह व्यक्ति हो या राज्य, सही है?

क्या इस घटने-बढ़ने वाले आधार के सिवाय नैतिकता का कोई अन्य आधार नहीं है? किसी नैतिक आचरण के लिए प्रशंसा और निन्दा, पुरस्कार और दण्ड एवं विधि और निषेध ही पर्याप्त आधार नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह है कि नैतिकता का सार-तत्त्व है इन रूढ़िगत आदेशों के कारण को जानना, उस कसौटी को जानना जिससे उनके न्याय्य होने का निश्चय किया जा सके। अन्य कथोपकथनों में यह बात बार-बार कही जाती है कि यदि हम यह मान भी लें कि आम जनता को अपनी अन्तर्दृष्टि से परीक्षा किए बिना प्रचलित रूढ़ि और कानून का पालन करना चाहिए तो भी कानून बनाने वालों और रूढ़ियाँ निर्धारित करने वालों को शाश्वत सिद्धान्तों का ज्ञान होना चाहिए अन्यथा अन्धे ही अन्धों के नेता होंगे।

विधिबद्ध नैतिकता के सिद्धान्त—जो हमारे अध्ययन के इस द्वितीय भाग का मुख्य विषय है—और व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले उस विचार-विमर्श में, जिससे

वह अपने आचरण को निर्देशित करने और उचित सिद्ध करने के लिए आवश्यक सामान्य सिद्धान्तों का ज्ञान पाने का प्रयत्न करता है, कोई बुनियादी अन्तर नहीं है। नैतिक सिद्धान्त का प्रारम्भ मूलतः उस समय होता है जब कोई व्यक्ति यह प्रश्न करता है कि "मैं ऐसे ही क्यों करूँ और किसी और तरह क्यों न करूँ? यह क्यों ठीक है और वह क्यों ग़लत है? किसी को इस ढंग से काम करने पर नाराज होने और दूसरे ढंग से काम करने के लिए आदेश देने का क्या अधिकार है?" बच्चे जब यह कहने लगते हैं कि बुजुर्गों के आदेश मनमाने हैं और वे ये आदेश सिर्फ इसलिए देते हैं कि वे हमसे ऊँची स्थिति में हैं, तब वे कम-से-कम नैतिकता के सिद्धान्त की राह पर चल अवश्य पड़ते हैं। और वयस्क व्यक्ति नैतिकता के सिद्धान्त के पथ पर तब पदार्पण करता है जब नैतिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता उपस्थित होने पर, यह दुविधा पैदा होने पर कि क्या करना उचित और सर्वोत्तम है, वह चिन्तन और विमर्श के द्वारा ऐसा मार्ग खोजने का प्रयत्न करता है जो उसे एक विश्वसनीय और निर्भर करने योग्य सिद्धान्त पर पहुँचा दे।

नैतिकता के सिद्धान्त का निश्चय उस समय नहीं किया जा सकता, जबकि हमें यह पक्का विश्वास हो कि अमुक कार्य सही है और अमुक ग़लत, क्योंकि उस दशा में विमर्श और अनुचिन्तन की गुंजायश ही नहीं होगी। इस सिद्धान्त का निश्चय तो तभी किया जा सकता है जब लोगों के सामने ऐसी दुविधा की स्थितियाँ उपस्थित हों जिनमें विभिन्न कामनाएँ परस्पर-विरोधी मंगलों की आशाएँ पैदा करें और जिनमें परस्पर-विरोधी कार्य नैतिक दृष्टि से सही प्रतीत हों। मंगलकारी परिणामों और सही और ग़लत के पैमानों और नियमों के ऐसे संघर्ष में ही मनुष्य नैतिकता के आधार की व्यक्तिगत रूप से परीक्षा और खोज करता है। उदाहरण के लिए एक नाजुक घड़ी उस समय उपस्थित होती है जब कोई व्यक्ति एक सुरक्षित गृह-जीवन का परित्याग कर प्रतिस्पर्धामय व्यवसाय के थपेड़ों में पड़ता है और देखता है कि एक में जो नैतिक पैमाने लागू होते थे, वे दूसरे में लागू नहीं होते। अगर ऐसा संकट आ पड़ने पर वह अपने-आपको समाज की मँझधार में छोड़ दे और जो सामाजिक दबाव सबसे प्रबल हो अपने-आपको उसके अनुकूल बनाकर धारा में बहने दे, तब तो दूसरी बात है, अन्यथा वह इस संघर्ष को तीव्रता से अनुभव करेगा। यदि वह इस संघर्ष का अपने विचारों में मुकाबला करने का प्रयत्न करता है तो वह एक ऐसे तर्कसंगत सिद्धान्त की खोज करेगा जिससे वह यह निश्चय कर सके कि असल में सही चीज़ क्या है। ऐसा करने पर वह नैतिकता के सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रवेश करता है, भले ही वह अनजाने में ऐसा कर रहा हो।

कारण, जिसे हम नैतिकता का सिद्धान्त कहते हैं, वह नैतिक संघर्ष और संदेह पैदा होने पर विचार-विमर्श के द्वारा सही मार्ग की खोज के इच्छुक किसी भी व्यक्ति के मानस को विक्षुब्ध करने वाले इस प्रश्न को अधिक चेतन रूप में और

विधिपूर्वक उठाना ही है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नैतिकता का सिद्धान्त समस्त विमर्शात्मक नैतिकता में निहित सिद्धान्त का विस्तार-मात्र है। नैतिक अन्तर्द्वन्द्व दो प्रकार का होता है। एक वह जो उस समय पैदा होता है जबकि एक व्यक्ति को किसी ऐसे काम का प्रलोभन होता है जिसे वह निश्चित रूप से गलत समझता है। इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व पर ही नैतिकता सम्बन्धी लेखों और व्याख्यानों में सबसे अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व व्यावहारिक दृष्टि से एक व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण होते हैं, किन्तु इन अन्तर्द्वन्द्वों के समय हम नैतिकता के सिद्धान्त को नहीं खोजते। एक बैंक का कर्मचारी धन को गबन करने का प्रलोभन उत्पन्न होने पर अवश्य ही अपने मन में ऐसे तर्क करेगा और ऐसे कारण ढूंढ़ने का प्रयत्न करेगा जिनसे कि वह अपने मन को यह आश्वासन दे सके कि उसके लिए ऐसा करना बुरा नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति में वह वास्तव में विचार-विमर्श नहीं करता, बल्कि अपनी आकांक्षा को अपने विश्वास पर हावी हो जाने की अनुमति देता है। जब वह अपने मन में कोई कार्य करने का संकल्प कर लेता है और उसके लिए औचित्य और कारण की खोज का प्रयत्न करता है, तब उसके मन में सचमुच गम्भीरतापूर्वक यह सन्देह नहीं उठता कि उसे क्या करना चाहिए।

दूसरी ओर एक ऐसे राष्ट्र के, जिसने किसी दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है, एक नागरिक का उदाहरण लीजिए। उसका अपने निज के राज्य के प्रति गहरा अनुराग है। उसने उसके प्रति वफादारी और उसके कानूनों के पालन की आदत बना ली है और अब उसका एक आदेश यह है कि वह युद्ध का समर्थन करे। दूसरी ओर वह उस देश के प्रति भी कृतज्ञता और प्रेम अनुभव करता है जिसने उसे आश्रय दिया है और उसका पालन-पोषण किया है। किन्तु उसका यह विश्वास है कि यह युद्ध अन्यायपूर्ण है, या हो सकता है, उसका यह विश्वास हो कि सभी युद्ध हत्या के ही दूसरे रूप हैं और इसलिए बुरे हैं। उसकी प्रकृति का एक पक्ष, उसके विश्वासों और आदतों का एक समूह, उसे युद्ध का समर्थन करने के लिए प्रेरित करता है; किन्तु उसके अस्तित्व का दूसरा गहरा भाग उसका विरोध करता है। वह दो कर्त्तव्यों के संघर्ष में फँस जाता है। एक ओर नागरिता की उसकी आदतों द्वारा प्रस्तुत मूल्य और दूसरी ओर उसके धार्मिक विश्वासों से उत्पन्न विरोधी मूल्य उसे एक अन्तर्द्वन्द्व में डाल देते हैं। इससे पहले उसे दोनों में कभी कोई संघर्ष अनुभव नहीं हुआ; ये दोनों मूल्य साथ-साथ रहते रहे हैं और एक-दूसरे को बल प्रदान करते रहे हैं। अब उसे परस्पर-प्रतिस्पर्धी नैतिक वफादारियों और विश्वासों में से एक का चुनाव करना है। यहाँ संघर्ष एक ऐसे श्रेयस्, जो उसके सामने स्पष्ट है, और किसी अन्य ऐसी वस्तु के बीच नहीं है जो उसे आकृष्ट करती है किन्तु जिसे वह निश्चित रूप से बुरा समझता है। यह संघर्ष दो ऐसे मूल्यों में है जो

अपनी-अपनी जगह असन्दिग्ध रूप से सही हैं, किन्तु जो इस समय एक-दूसरे के मार्ग में बाधक बन रहे हैं। ऐसी दशा में वह किसी निश्चय पर पहुँचने के लिए सोचने और विचारने के लिए मजबूर हो जाता है। इस प्रकार के विचार-विमर्श का, जिसमें इस समय वह व्यस्त होता है, सामान्यीकृत विस्तार ही नैतिकता का सिद्धान्त है।

इतिहास में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जबकि एक समूचे समाज के सामने या समाज के एक वर्ग के सामने ऐसे नये प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं जिनका उत्तर पुरानी रूढ़ियाँ पर्याप्त रूप में नहीं दे सकतीं। जो आदतें और विश्वास अतीत में बने होते हैं वे समकालीन जीवन के अवसरों और आवश्यकताओं के ढाँचे में ठीक नहीं बैठते। पेरीक्लीज़ के ज़माने के बाद ग्रीस में जो युग आया था वह इसी किस्म का था। इसी प्रकार बन्दी बनाये जाने के बाद का यहूदियों का ज़माना और मध्य युग के बाद का ज़माना भी, जबकि धर्म-निरपेक्ष हित बड़े पैमाने पर धार्मिक और मज़हबी हितों में समाविष्ट किये गए, इसी प्रकार के अवसर थे। और आज का वर्तमान युग तो इस प्रकार के युगों का इनसे भी बड़ा उदाहरण है, जबकि यन्त्र-युग के औद्योगिक विस्तार के बाद विशाल सामाजिक परिवर्तन आए हैं।

यदि नैतिकता के सिद्धान्त का विद्यार्थी यह भली-भाँति अनुभव कर ले कि विमर्शात्मक नैतिकता और नैतिकता के सिद्धान्तों की आवश्यकता उद्देश्यों, उत्तर-दायित्वों, अधिकारों और कर्त्तव्यों के संघर्ष से पैदा होती है, तो उसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि नैतिकता का सिद्धान्त क्या लाभ पहुँचा सकता है और इससे विद्यार्थी उसके स्वरूप के बारे में ग़लत धारणाएँ बनाने से भी बच जाएगा। रूढ़िगत नैति-कता और विमर्शात्मक नैतिकता का अन्तर स्पष्ट रूप में यह है कि रूढ़िगत नैतिकता का परिणाम कुछ निश्चित आदेश, नियम और निश्चित विधि-निषेध होते हैं, जब कि विमर्शात्मक नैतिकता में ऐसा नहीं होता। किन्तु गड़बड़ी और विभ्रम तब पैदा होता है जबकि हम यह मान लेते हैं कि तर्कयुक्त सिद्धान्तों का आश्रय लेने का अर्थ केवल उसे रूढ़ियों के स्थान पर प्रतिष्ठित करना है और इस प्रकार हम नैतिक आदेशों की प्रामाणिकता का स्रोत बदलने लगते हैं। नैतिकता का सिद्धान्त—(1) मनुष्य के मन में पैदा होने वाले विभिन्न प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वों का सामान्यीकरण करता है और इस प्रकार वह एक दुविधाग्रस्त और परेशानी में पड़े हुए व्यक्ति को इस बात में सहायता देता है कि वह अपनी विशिष्ट समस्या को एक अधिक व्यापक प्रसंग में रखकर उसका समाधान खोज सके। (2) वह यह बता सकता है कि जिन्होंने इस तरह के विषयों पर विचार किया है, उनके इस प्रकार की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से हल करने के मुख्य-मुख्य तरीके क्या हैं; और वह व्यक्तिगत विचार-विमर्श को अधिक विधियुक्त और प्रबुद्ध बना सकता है। क्योंकि वह ऐसे विकल्प सुझा सकता है, जिनकी उसके बिना उपेक्षा कर दी जाती और मनुष्य के

विवेक और निर्णय को अधिक संगत और समंजस बना सकता है। किन्तु वह कोई ऐसी प्रश्नोत्तरी या कथोपकथन प्रस्तुत नहीं कर सकता जिसमें कि प्रश्न और उत्तर दोनों बिलकुल निश्चित और निर्धारित हों। वह मनुष्य के व्यक्तिगत चयन को अधिक बुद्धियुक्त बना सकता है, परन्तु वह नैतिक दुविधा और उलझन के समय अनिवार्यतः किए जाने वाले व्यक्तिगत निश्चय का स्थान नहीं ले सकता। कम-से-कम आगे आने वाले विचार-विमर्श में यही दृष्टिकोण रहेगा और जो विद्यार्थी नैतिकता के सिद्धान्त से इससे अधिक की आशा करेगा, उसे निराशा होगी। विमर्शात्मक नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उससे विमर्श और अनुचिन्तन से व्यक्ति अपने लिए स्वयं निष्कर्ष निकाल सकता है। व्यक्ति के लिए पहले से तैयार और गढ़े-गढ़ाए निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न विमर्शात्मक नैतिकता के स्वरूप का ही व्याघात है।

## 2. नैतिक कार्य का स्वरूप

जब हम रूढ़िगत नैतिकता का परित्याग कर विमर्शात्मक नैतिकता पर आते हैं तो प्रचलित रीतियों और प्रथाओं के अनुपालन के बजाय व्यक्तिगत प्रवृत्ति और अभिवृत्ति पर बल देते हैं, इसलिए नैतिकता के सिद्धान्त के अध्ययन में हमें सबसे पहले उन उपादानों की एक मोटी रूपरेखा तैयार करनी चाहिए जिनसे व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ बनती हैं। मोटे तौर पर नैतिक स्थिति के लक्षण बहुत समय तक स्पष्ट रहे हैं; सन्देह और विवाद मुख्यतः उनके पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में ही पैदा होते हैं। अरस्तू ने इसका सूत्र बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है। नैतिक कार्य करने वाले की, वह कार्य करते समय, एक विशिष्ट 'मानसिक स्थिति' होनी चाहिए। सबसे पहली बात यह कि उसे यह **ज्ञात होना** चाहिए कि वह क्या कर रहा है। दूसरी यह कि उसे इसका **ऐच्छिक चुनाव** करना चाहिए, और वह भी सिर्फ उसीके गुणावगुण के आधार पर, और तीसरी बात यह कि उसका कार्य किसी बद्धमूल और स्थायी **चरित्र** की अभिव्यक्ति होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसका कार्य **स्वैच्छिक** होना चाहिए; अर्थात् उससे एक चयन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए और कम-से-कम पूर्ण नैतिकता के लिए यह चयन व्यक्तित्व के सामान्य रुझान और स्वभाव का बाह्य प्रकाशन होना चाहिए। व्यक्ति के कार्य में यह अवश्य ध्वनित होना चाहिए कि जो कुछ वह कर रहा है, उसका उसे ज्ञान है; अधिक निश्चित रूप में कहा जाए तो एक ऐसा प्रयोजन, एक उद्देश्य, एक लक्ष्य या एक ऐसी चीज व्यक्ति के सामने होनी चाहिए जिसके लिए वह कार्य किया जाता है। शिशुओं, मूढ़ों और कुछ मामलों में पागलों के कामों में कोई नैतिकता नहीं होती। उन्हें यह मालूम नहीं होता कि वे क्या कर रहे हैं। बच्चे अपने जीवन में बहुत जल्दी ही अपने ऐसे कामों के लिए, जिनके परिणाम बुरे होते हैं, यह बहाना बनाना सीख

लेते हैं कि यह काम अचानक हो गया, यानी उनका वैसा करने का कोई इरादा या उद्देश्य नहीं था। इस तरह जब बच्चे इस आधार पर अपने-आपको निर्दोष बताते हैं कि उनका अमुक काम करने का इरादा नहीं था, तो एक तरह से वे यह प्रदर्शित करते हैं कि उन्हें यह अहसास है कि 'इरादा' किसी भी नैतिक स्थिति का सामान्य अंग है। इसके अलावा जब कोई उच्चतर भौतिकशक्ति किसीको किसी काम के लिए विवश करती है तो उसमें व्यक्तिगत चयन या व्यक्तिगत प्रवृत्ति जैसी कोई चीज़ नहीं होती। यहाँ तक कि जब वह शक्ति केवल किसी तात्कालिक अव-पीड़न के बजाय केवल उसकी धमकी के रूप में ही होती है तब भी 'दबाव' या बाध्यता कम-से-कम अपराध की गुरुता को कुछ कम अवश्य करती है। यह स्वीकार किया जाता है कि मौत या शारीरिक क्षति का भय ऐसी चीज़ है कि वह साहसी और वीर व्यक्तियों के सिवाय शेष सभी व्यक्तियों की व्यक्तिगत चयन की क्षमता को अभिभूत कर देती है।

कोई भी कार्य किसी बद्धमूल और स्थायी चरित्र की अभिव्यक्ति होना चाहिए। किन्तु चरित्र का स्थायित्व एक सापेक्ष चीज़ है, पूर्ण निरपेक्ष नहीं। किसी भी व्यक्ति में, चाहे वह कितना ही परिपक्व हो, पूर्णतः निश्चित और बद्धमूल चरित्र नहीं होता, जबकि दूसरी ओर एक बच्चे का चरित्र भी, उस हद तक स्थायी होता है जिस हद तक वह कुछ अभिवृत्तियाँ और आदतें उपार्जित करता है। यह शर्त जोड़ने का अभिप्राय यह बताना है कि मनुष्य के कामों का कोई बँधा हुआ पैमाना नहीं है, बल्कि वह बदलता रहता है। उसके कुछ काम उसकी आत्मा की अधिक गहरी सतह से उद्भूत होते हैं, कुछ अधिक सामयिक होते हैं और कुछ आकस्मिक और परिवर्तनीय परिस्थितियों के परिणाम होते हैं। अत्यधिक दबाव या शारीरिक दुर्बलता की परिस्थितियों में किये गए कार्यों की हम यह कहकर उपेक्षा कर देते हैं कि उस समय काम करने वाला 'अपने आपे में नहीं था'। किन्तु फिर भी हमें व्यक्ति के कामों की इस तरह की व्याख्या करने में अति नहीं करनी चाहिए। किसी व्यक्ति का कोई काम सनकीपन का और अनियमित ढंग का इसलिए भी हो सकता है, कि उसने अतीत में उस ढंग की प्रवृत्ति बना ली हो। एक अस्थायी चरित्र ऐसे कार्यों का परिणाम भी हो सकता है जिनको समझ-बूझकर पहले अपनाया गया हो। मनुष्य जब नशे की हालत में होता है तो वह अपने आपे में नहीं होता। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें नशे की दो हालतों में फर्क करना होगा; एक वह जिसमें एक ऐसा व्यक्ति, जो आम तौर पर मद्य के व्यसन से मुक्त हो, किसी परिस्थितिवश शराब पीकर उसके नशे से उन्मत्त हो गया हो और दूसरी वह जिसमें नशे में चूर होना स्वेच्छा से चुनी गई आदत और स्थायी चरित्र का परिणाम हो।

क्या यह संभव है कि मनुष्य के काम स्वैच्छिक अर्थात् इच्छा, इरादा, चयन

या स्वाभाविक प्रवृत्ति के अभिव्यक्त रूप हों, और फिर भी वे नैतिक दृष्टि से तटस्थ और उदासीन हों ? बाहरी तौर पर इसका उत्तर 'हाँ' में होगा। हम सुबह उठते हैं, कपड़े पहनते, खाते और अपने रोजमर्रा के काम में लग जाते हैं, किन्तु जो कुछ हम करते हैं उसे हम नैतिक दृष्टि से कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। ये काम तो हमारे रोजमर्रा के नियमित और सामान्य काम हैं और जो काम हम करते हैं उनमें से बहुत-से काम ऐसे होते हैं जो हम इरादतन और यह जानते हुए करते हैं कि हम क्या कर रहे हैं तो भी वे रोजमर्रा के बँधे हुए काम होते हैं। यही बात विद्यार्थी, व्यापारी, इंजीनियर, वकील या डॉक्टर के रोजमर्रा के कामों के बारे में है। हम यह अनुभव करते हैं कि यदि हम हर काम के साथ नैतिकता को जोड़ने लगें तो वह पागलपन होगा। हम शायद यह सन्देह करने लगें कि हर काम में नैतिकता को देखना मानसिक विक्षिप्तता का, या कम-से-कम मनुष्य की निश्चय करने की क्षमता में कमी का, परिणाम है। दूसरी ओर हम किसी को रोज-मर्रा के काम करते देखकर यह कहते हैं कि वह अपने रोजमर्रा के कर्त्तव्य पूरे कर रहा है। यदि हम अपनी नैतिक चरित्र की धारणा में से ऐसे सब कामों को निकाल दें जो रोजमर्रा के कामों के रूप में, बार-बार पैदा होने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति और उत्तरदायित्वों के निभाव के लिए किए जाते हैं तो वास्तव में ही हमारी नैतिकता एक बड़ी दुर्बल और मरियल-सी चीज हो जाएगी; क्योंकि ये सब काम अपने-आपमें अलग-अलग बहुत मामूली और छोटे होने पर भी मिलकर बहुत बड़े हो जाते हैं।

इन दोनों दृष्टिकोणों में जो असंगति नज़र आती है वह वास्तव में बिलकुल ऊपरी है। हम बहुत-से काम ऐसे करते हैं जिनमें न केवल हमें नैतिकता का कोई खयाल नहीं होता, बल्कि एक तरह से किसी भी तरह का खयाल नहीं होता। किन्तु फिर भी ये काम अन्य महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान कामों का आधार होते हैं। अपराध करने के लिए जाने वाला अपराधी और दया का कार्य करने के लिए जाने वाला दयालु व्यक्ति दोनों को ही चलकर या किसी सवारी पर चढ़कर जाना पड़ता है। यह चलकर जाना या सवार होकर जाना आदि काम अपने-आपमें अलग से विचार करने पर ऐसे काम मालूम होते हैं कि उनका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उनके परिणामों को दृष्टि में रखकर देखने पर उनका एक नैतिक महत्त्व हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति ने पहले से ही किसी को सुबह किसी महत्त्व-पूर्ण काम का वचन दे रखा हो और वक्त आने पर वह सिर्फ आलस्य के कारण ही बिछौने से उठने से इन्कार कर दे तो यह स्पष्ट है कि उसका यह काम देखने में भले ही स्वयंचालित हो तो भी अप्रत्यक्ष रूप में उसके साथ नैतिकता का सम्बन्ध अवश्य है। बहुत-से काम ऐसे किए जाते हैं जो अपने-आपमें बहुत तुच्छ प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वह ऐसे कामों के आधार और पोषक होते हैं, जिनमें कुछ नैतिक

दृष्टिकोण रहता है। जो व्यक्ति इस बात की उपेक्षा कर देता है कि उन बहुत-से कामों का, जो ऊपर से देखने में न्यूनाधिक रोजमर्रा के काम प्रतीत होते हैं, उन थोड़े-से कामों के साथ, जिनसे स्पष्ट रूप में नैतिकता का प्रश्न जुड़ा हुआ है, संबंध है, उस पर कतई भरोसा नहीं किया जा सकता।

### 3. आचरण और चरित्र

आम बातचीत में जब हम **आचरण** शब्द का प्रयोग करते हैं तब हम एक तरह से इन तथ्यों को स्वीकार करते हैं। यह शब्द मनुष्य के काम की निरन्तरता और सातत्य के विचार को, जिसे हम अभी स्थायी और बद्धमूल चरित्र के प्रसंग में ऊपर देख चुके हैं, अभिव्यक्त करता है। जब कहीं हम आचरण का उल्लेख करते हैं तो वहाँ हमारा अभिप्राय कुछ ऐसे कामों की शृंखला से नहीं होता, जो परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि वहाँ हर काम में एक प्रवृत्ति और इरादा अन्तर्निहित रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आगे कुछ और काम भी होते हैं और इस प्रकार एक परस्पर-सम्बद्ध कार्यशृंखला तब तक **चलती** रहती है जब तक कि उसकी अन्तिम परिणति न हो जाए। हम दूसरों से जो प्रशिक्षण लेते हैं या स्वयं अपने-आपको जो आत्म-शिक्षण देते हैं, उनसे होने वाले नैतिक विकास का अर्थ यह ज्ञान ही है कि हमारे सब काम एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और इस ज्ञान के फलस्वरूप अन्धभाव से और बिना सोचे-विचारे किए जाने वाले पृथक्-पृथक् कामों का स्थान एक परस्पर-सम्बद्ध 'आचरण' का आदर्श ले लेता है। जब एक व्यक्ति में कुछ नैतिक स्थायित्व आ जाता है तब भी उसमें कुछ प्रलोभन रहता है और आम तौर पर वह यह सोचने लगता है कि यह तो बहुत मामूली-सा काम है, या यह एक अपवाद है और एक बार ऐसा तुच्छ-सा काम कर लेने पर भी किसी का कोई नुकसान नहीं होगा। उसे यह 'प्रलोभन' होता है कि वह कार्यों की उस शृंखला की उपेक्षा कर दे जिसमें एक काम दूसरे का परिणाम होता है और इस कार्य-शृंखला का अन्तिम परिणाम उन सबका संचित निचोड़ होता है

हम क्षुधाओं और आवेगों, गर्मी और सर्दी, आराम और कष्ट, प्रकाश और कोलाहल आदि की सीधी अनुक्रियाओं के प्रभाव के अन्तर्गत जीवन प्रारम्भ करते हैं। भूखा बच्चा एकदम भोजन पर टूट पड़ता है। उसके लिए यह काम निर्दोष और स्वाभाविक है। किन्तु फिर भी अपने इस काम से वह अपने ऊपर भर्त्सना को आमंत्रित करता है; उसे बताया जाता है कि उसे तमीज और दूसरों का खयाल नहीं है, वह लालची है; उसे तब तक इन्तज़ार करना चाहिए जब तक कि खाना परोसा नहीं जाता और उसकी बारी नहीं आती। उसे यह बताया जाता है कि उसके इस काम का सम्बन्ध केवल क्षुधा की तत्काल सन्तुष्टि से नहीं है, जैसा कि वह कहता है, बल्कि अन्य कारणों से भी है। वह हर काम को अलग-अलग

काम की दृष्टि से नहीं, बल्कि कामों की एक शृंखला की दृष्टि से देखना सीखता है। इस प्रकार महज़ परस्पर-असम्बद्ध कार्यों के अनुक्रम का स्थान धीरे-धीरे एक परस्परं-सम्बद्ध **कार्य-शृंखला** का विचार ले लेता है और यही विचार नैतिक आचरण का सार तत्त्व है।

आचरण को एक शृंखलाबद्ध सम्पूर्ण आचरण के रूप में मानने का यह विचार नैतिक दृष्टि से उदासीन कार्यों की समस्या को हल कर देता है। हर काम में एक नैतिक महत्त्व और अर्थ की **सम्भावना** सन्निहित है, क्योंकि वह अपने परिणामों के कारण, एक अधिक व्यापक समग्र व्यवहार का अंग होता है। एक व्यक्ति खिड़की खोलना इसलिए प्रारम्भ करता है कि उसे हवा की आवश्यकता है। देखने में उसका यह कार्य अत्यन्त 'स्वाभाविक' और नैतिकता के प्रश्न से सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होता है। किन्तु तभी उसे याद आता है कि उसका साथी बीमार है और हवा के झोंके को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अब वह अपने काम को दो अलग-अलग रोशनियों में देखता है, जिनमें दो अलग-अलग मूल्य निहित हैं और तब उसे उनमें से किसी एक का चयन करना होता है। इस तरह ऊपर से नैतिक दृष्टि से सर्वथा उदासीन और तटस्थ दीख पड़ने वाले कार्य में अन्तर्निहित सम्भावित नैतिक मूल्य उसके सम्मुख स्पष्ट हो उठता है। अथवा मान लीजिए, एक व्यक्ति कसरत के लिए सैर करना चाहता है। उसके सामने दो रास्ते हैं। आम तौर पर इनमें से किसी एक को चुनना उसकी व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर होगा। किन्तु अचानक उसे स्मरण हो आता है कि दोनों रास्तों में से अधिक बढ़िया रास्ता अधिक लम्बा है और उस रास्ते से जाने में विलम्ब हो जाने के कारण यह सम्भव है कि वह किसी से मिलने का अपना जरूरी वायदा पूरा न कर सके। अब उसे अपने काम को एक अधिक व्यापक कार्य-शृंखला के प्रसंग में देखना और यह निश्चय करना पड़ता है कि वह किसी सुदूर परिणाम को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है—अपने व्यक्तिगत आनन्द को या दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति को। इस प्रकार जहाँ यह ठीक है कि ऐसा कोई काम नहीं है, जिसमें हर परिस्थिति में कुछ-न-कुछ चेतन नैतिकता अवश्य सम्बद्ध **होनी ही चाहिए**, वहाँ यह भी ठीक है कि चूंकि हर काम एक समग्र आचरण का हिस्सा होता है, इसलिए ऐसा कोई काम नहीं हो सकता जो किसी भी निश्चित नैतिक महत्त्व से **सर्वथा रहित हो**। नैतिक दृष्टि से उदासीन और नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कामों के बीच में कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। मैथ्यू आर्नल्ड ने जब यह कहा था कि मनुष्य का आचरण—नैतिक आचरण—उसके जीवन का तीन-चौथाई भाग होता है, तो उसने एक प्रचलित धारणा को ही अभिव्यक्त किया था। यह सम्भव है कि उसने अपने इस कथन में नैतिक आचरण के लिए जीवन का उससे अधिक बड़ा अनुपात निर्दिष्ट कर दिया हो, जितना कि दूसरे अधिकतर लोग करते हैं, परन्तु उसका यह कथन इस बहु-प्रचलित विचार

को अवश्य व्यक्त करता है कि नैतिकता का सम्बन्ध हमारे समूचे जीवन के साथ नहीं, बल्कि उसके एक स्पष्ट-निर्दिष्ट भाग से है; हमारा शेष जीवन नैतिकता से सर्वथा असम्बद्ध और उदासीन है। किन्तु हमारा निष्कर्ष इससे भिन्न है। हमारा मत है कि तात्कालिकता की दृष्टि से नहीं, सम्भाव्यता की दृष्टि से हमारे चेतन जीवन का शत-प्रतिशत नैतिक आचरण ही है। कारण, हमारे सब काम एक-दूसरे के साथ इस तरह से जुड़े हुए हैं कि उनमें से किसी भी काम पर विचार करते हुए हमें चरित्र की अभिव्यक्ति के रूप में उस पर अपना निर्णय देना होगा। दूसरी ओर यह भी सही है कि ऐसा कोई काम नहीं है जो कुछ परिस्थितियों में नैतिक दृष्टि से उदासीन न हो, क्योंकि यह सम्भव है कि उन परिस्थितियों में चरित्र के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही न हो। किसी व्यक्ति का नैतिक चरित्र सुदृढ़ और सुबद्ध है या नहीं इसका इससे अच्छा और कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि उसे यह ज्ञान है या नहीं कि कब नैतिकता का सवाल उठाना चाहिए और कब नहीं। इसका अर्थ यह है कि उसमें मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता होनी चाहिए जोकि एक सन्तुलित व्यक्तित्व का प्रतीक है। निःसन्देह बहुत-से लोग ऐसे निष्ठुर या ऐसे लापरवाह होते हैं कि वे उचित होने पर भी बहुधा नैतिक प्रश्न उठाते ही नहीं हैं। किन्तु कुछ ऐसे असन्तुलित व्यक्ति भी होते हैं जिनकी नैतिकता-अनैतिकता की दुविधा पागलपन की सीमा तक पहुँच जाती है। और इस प्रकार वे नैतिक आचरण में रुकावट खड़ी कर देते हैं और उसे निष्क्रिय कर देते हैं।

केवल यह सिद्ध करना ही पर्याप्त नहीं है कि सब काम परस्पर बँधे हुए हैं और एक काम दूसरे का कारण या परिणाम होता है और इस प्रकार सब काम एक-दूसरे को आगे ले जाते हैं और उनकी यह परस्पर-सम्बद्धता ही नैतिक आचरण का मूल है। हमें यह भी विचार करना है कि सब काम परस्पर एक समग्र के रूप में शृंखलाबद्ध क्यों हैं और वे भौतिक घटनाओं की भाँति परस्पर असम्बद्ध कामों का अनुक्रम-मात्र क्यों नहीं हैं। इसका उत्तर देने के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रवृत्ति और चरित्र शब्दों से हमारा क्या अभिप्राय होता है। यदि एक काम का सम्बन्ध दूसरे काम के साथ सिर्फ वैसा ही हो, जैसाकि एक दियासलाई की लौ का बारूद के विस्फोट के साथ होता है, तो वहाँ क्रिया तो होगी किन्तु आचरण नहीं होगा। किन्तु हमारी क्रियाएं सिर्फ कुछ अन्य क्रियाओं को, जो उनके परिणाम होती हैं, जन्म ही नहीं देतीं, बल्कि वह उन क्रियाओं के कर्ता पर एक प्रभाव डाल जाती हैं जो उसकी काम करने की स्थायी प्रवृत्तियों को सुदृढ़ बनाता या कमजोर करता है। इस तथ्य से हम मनुष्य की 'आदत' के रूप में भली-भाँति परिचित हैं।

किन्तु यह हो सकता है कि 'आदत' के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है उसे अधिक गहरा या व्यापक बनाने की आवश्यकता हो। कारण, आम तौर पर हम

आदत का अर्थ सिर्फ किसी काम के बाहरी तरीके की बार-बार आवृत्ति ही समझते हैं, जैसे कि सिगरेट पीना या बात-बात में गाली देना, साफ रहना या अपने कपड़ों और शरीर के सम्बन्ध में लापरवाह रहना, व्यायाम करना या खेल खेलना। किन्तु आदत वास्तव में एक अर्थपूर्ण ढंग से स्वयं मनुष्य की आत्मा की रचना में बहुत गहराई तक गई हुई होती है। किसी व्यक्ति की आदत यह सूचित करती है कि उसमें कुछ कामनाएँ निर्मित हो गई हैं और उन्होंने ठोस आकार धारण कर लिया है; और कुछ उद्दीपनों के प्रति उसकी संवेदनशीलता और अनुक्रियाशीलता बढ़ गई है, कुछ वस्तुओं की ओर ध्यान देने या उनके बारे में सोचने की उसकी क्षमता अधिक सुदृढ़ या क्षीण हो गई है। दूसरे शब्दों में आदत में कामना, इरादा, चयन, प्रवृत्ति आदि सभी का समावेश हो जाता है, जो उसे स्वैच्छिक रूप प्रदान करता है। और आदत का यह रूप उसके उस रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है जो महज बाह्य कार्य की बार-बार आवृत्ति की प्रवृत्ति से प्रकट होता है। कारण यह कि बाह्य कार्य की बार-बार आवृत्ति की प्रवृत्ति का महत्त्व व्यक्तिगत प्रवृत्ति के स्थायित्व में ही निहित है, जोकि बाह्य कार्यों और उनके परस्पर सादृश्य का वास्तविक कारण है। मनुष्य के कार्य सिर्फ अपने-आपमें ही परस्पर मिलकर आचरण की रचना नहीं करते, बल्कि वे ऐसा इसलिए करते हैं कि उनका एक स्थायी और एक अद्वितीय परिस्थिति के साथ सर्वसाम्मान्य सम्बन्ध होता है। यह परिस्थिति है मनुष्य का व्यक्तित्व या चरित्र, जो उसके सब कार्यों में एकत्व स्थापित करता है जिसमें विभिन्न कार्य अपने स्थायी चिह्न छोड़ जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी क्षणिक आवेग के वशीभूत हो जाता है तो महत्त्व उसके फलस्वरूप होने वाले विशिष्ट कार्य का नहीं होता, बल्कि उस आवेग की शक्ति के सुदृढ़ हो जाने का होता है और उसका यह सुदृढ़ हो जाना ही वास्तव में वह चीज है जिसे हम आदत कहते हैं। क्षणिक आवेग के प्रति आत्मसमर्पण करके मनुष्य केवल उस एक विशिष्ट **कार्य** से ही अपने-आपको नहीं बाँधता, बल्कि एक भावी कार्य-शृंखला के साथ, एक **व्यवहार-प्रणाली** के साथ, अपने-आपको बाँध लेता है।

कभी-कभी अवसर ऐसा नाजुक होता है कि मनुष्य यह निर्णय करते हुए कि उसे किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए, यह अनुभव करने लगता है कि उसका भविष्य बल्कि उसका अस्तित्व ही खतरे में है। ऐसे अवसर, स्पष्टतः, सम्बद्ध व्यक्ति के लिए बहुत व्यावहारिक महत्त्व के होते हैं। वे नैतिकता के सिद्धान्त के निर्धारण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन नाजुक मौकों पर जो चीज स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है वह हरेक स्वैच्छिक निश्चय में पाई जाती है। वास्तव में बिना सुविचारित चयन के आवेगवश किये गए कार्यों में भी वह पाई जाती है। ऐसे मामलों में, बाद के अनुभव से हम यह जान पाते हैं कि अपने पहले के किसी काम में हमने अपने-आपको कितनी गम्भीरता से बाद के दूसरे कामों के लिए बाँध लिया

था। हम अपने-आपको एक संकटमय जटिल स्थिति में पाते हैं और विचार-विमर्श करने पर हम देखते हैं कि उस परेशानी और संकट का कारण एक ऐसा कार्य था जो हमने बिना सोचे-समझे और वगैर किसी सुविचारित इरादे के अचानक ही कर डाला था। तब हम कार्यों के समूचे वर्ग के मूल्य पर ही विचार-विमर्श करने लगते हैं। तब हम यह अनुभव करते हैं कि किसी काम को करने से पूर्व उसका जो विचार मन में होता है उसमें और उसे करने के बाद के उसके विचार में क्या अन्तर होता है? गोल्डस्मिथ ने ठीक ही कहा है कि "पहले हम अपनी भूख के अनुसार भोजन पकाते हैं और बाद में प्रकृति उसे हमारे लिए पकाती है।" प्रारम्भ में हम आवेग से प्रेरित होकर और भूख से आकृष्ट होकर काम में कूद पड़ते हैं। और जब हम काम कर चुकते हैं और अप्रत्याशित और अवांछनीय परिणाम हमारे सामने आते हैं तो हम उस काम पर अनुचिन्तन और विमर्श करने लगते हैं। हम इस बात की समीक्षा करने लगते हैं कि जो काम हमने सोचे-समझे बगैर या बहुत कम विचार करके कर डाला था वह कहाँ तक सही था या उसमें हमारी कितनी अक्लमन्दी थी। हमारा निर्णय और विवेक इस समीक्षा की सामग्री के लिए पीछे की ओर मुड़कर सिंहावलोकन करता है और क्योंकि कुछ बातें हमारी आशा और कल्पना के प्रतिकूल हुई होती हैं, इसलिए हम विचार करते हुए और पीछे की ओर लौटते हैं और यह पता लगाते हैं कि आखिर उसका कारण क्या था। किन्तु यद्यपि यह ठीक है कि हमारे निर्णय और विवेक की सामग्री हमें अतीत से प्राप्त होती है, तो भी हमारे लिए अधिक विचारणीय बात यह होती है कि अगली मर्तबा हमें क्या करना चाहिए। इस प्रकार अनुचिन्तन या विमर्श का कार्य भविष्योन्मुख होता है। हम यह निश्चय करना चाहते हैं कि जिस मार्ग का हमने अवलम्बन किया है उसी पर आरूढ़ रहें या दूसरे मार्ग का आश्रय लें। जो व्यक्ति अपने भावी व्यवहार के लिए प्रकाश ग्रहण करने के निमित्त अपने विगत कार्य पर विचार-विमर्श करता है वह अन्तर्भावनाशील होता है। जब कोई गड़बड़ी हो जाती है तब आमतौर पर प्रलोभन यह होता है कि उसके लिए अपने से बाहर की किसी वस्तु को दोषी ठहरा दिया जाए। हम यह पसन्द नहीं करते कि उसका कारण अन्तर्निरीक्षण कर अपने ही भीतर कहीं खोजें। जब व्यक्ति इस प्रलोभन के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है तो वह उत्तरदायित्वहीन हो जाता है। वह न तो स्वयं किसी निश्चित मार्ग का अवलम्बन करता है और न यही चाहता है कि दूसरे उसे किसी सुनिश्चित मार्ग पर डालें। कारण, वह अपने चरित्र और अपने कार्यों के बीच कोई कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं करता।

निष्कर्ष यह कि आचरण और चरित्र में बहुत गहरा सह-सम्बन्ध है। जब हम कार्यों की एक समूची शृंखला में सातत्य और संगति बताते हैं तब उससे हमारा अभिप्राय अभिवृत्तियों और आदर्शों की एकता होता है। मनुष्य के काम परस्पर

कार्य के उन कल्पित परिणामोंको ही अपनी दृष्टि में रखा होता है जो अच्छे और अनुकूल हो सकते हैं और उसके अवांछनीय परिणामों को या तो नजरन्दाज कर दिया होता है या उन्हें अधिक उज्ज्वल रूप में देखा होता है। यदि 'प्रेरक प्रयोजन' का अभिप्राय कार्य करते समय व्यक्ति की चेतना में विद्यमान भावनात्मक स्थिति से हो तो बेन्थम का कथन सर्वथा सही होगा। किन्तु क्योंकि प्रेरक प्रयोजन की वही कल्पना न्यूनाधिक प्रचलित है, इसलिए वह कोई घास-फूस का आदमी बना-कर उस पर निशाना नहीं साध रहा था, बल्कि एक सिद्धान्त पर आक्रमण कर रहा था जो नैतिक दृष्टि से खतरनाक है। कारण, यह सिद्धान्त लोगों को अपने कार्यों के प्रयोजन और प्रभाव की उपेक्षा करने और जो कुछ वे करना चाहते हैं उसका इस आधार पर औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रेरित करता है कि यह काम करते समय उनकी भावनाएँ निर्दोष और प्रेमपूर्ण थीं।

किन्तु प्रेरक प्रयोजन और व्यक्तिगत अनुभूति को एक मानना गलत है। मनुष्य को प्रेरित करनेवाली वस्तु अनुभूति नहीं है, बल्कि एक बद्धमूल प्रवृत्ति है; अनुभूति अधिक-से-अधिक उसका एक चिह्न हो सकती है और वह भी निश्चित नहीं है। एक संवेग, जैसाकि इस शब्द से ध्वनित होता है, हमें प्रेरित करता है, किन्तु संवेग निरी 'अनुभूति' से कहीं बड़ी चीज है। उदाहरण के लिए क्रोध चेतन अनुभूति की अवस्था उतना नहीं है, जितना कि वह उसे उत्पन्न करने-वाले के प्रति विनाशक तरीके से कार्य करने की प्रवृत्ति है। इसमें सन्देह है कि किसी कंजूस व्यक्ति को अपनी कंजूसी की अनुभूति की चेतना होगी, बल्कि इसके विपरीत वह अपने संचय किये हुए धन पर गर्व करता है और उसे संभालने और सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्न करता है। जिस प्रकार कोई क्रुद्ध व्यक्ति इस बात से इन्कार कर सकता है कि वह क्रुद्ध है और उसका यह इन्कार करना ईमानदारी-पूर्ण होगा, वैसे ही यह भी सम्भव है कि कोई महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति महत्त्वाकांक्षा की **अनुभूति** से सर्वथा रहित हो। कुछ ऐसे उद्देश्य और ध्येय होते हैं जो उसकी शक्ति को उभारते हैं और जिनकी प्राप्ति के लिए वह अपने-आपको पूर्ण हृदय से लगा देता है। यदि उसे अपने निज के आचरण की व्याख्या करनी हो तो वह कहेगा कि जो कुछ भी वह कर रहा है उसका कारण उसकी व्यक्तिगत महत्त्वा-कांक्षा नहीं, बल्कि उसके ध्येय का महत्त्वपूर्ण होना है।

जब यह स्वीकार कर लिया जाता है कि 'प्रेरक प्रयोजन' प्रवृत्ति और उद्देश्य की ओर रुझान का ही, जो कार्य में मूर्त्त रहता है, संक्षिप्त नाम है तब प्रेरक प्रयो-जन और आशय—अर्थात् परिणामों के प्रागवलोकन—के बीच सुनिश्चित विभेद का समस्त आधार खण्डित हो जाता है। केवल परिणामों का पूर्वावलोकन सूर्य-ग्रहण या चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी की भाँति एक उदासीन बौद्धिक कार्य हो सकता है; किन्तु वह मनुष्य को किसी कार्य की ओर प्रेरित तभी कर सकता है

जब कि उसके साथ उस तरह के परिणाम की इच्छा भी सम्बद्ध हो। दूसरी ओर चरित्र के एक नियत रुझान और प्रवृत्ति से मनुष्य कुछ खास किस्म के परिणामों का पहले से ही अनुमान लगा सकता है और कुछ अन्य किस्मों के परिणामों की, उनकी ओर ध्यान दिए बिना, उपेक्षा कर सकता है। एक लापरवाह आदमी को किसी कार्य के उन परिणामों का ख़याल भी नहीं आएगा जो किसी दूरदर्शी व्यक्ति को सूझ सकते हैं; और यदि वे उसे सूझेंगे भी तो वह उनको वह महत्त्व प्रदान नहीं करेगा जो एक सावधान आदमी प्रदान करता है। यह सम्भव है कि एक चालाक और कुटिल व्यक्ति जिन परिणामों को पहले से ही देख सकता है वे एक सीधे-सादे और खुले दिल वाले व्यक्ति को सूझें ही नहीं, और यदि वे उसके ध्यान में आएँगे भी तो वह उनके ख़याल मात्र से ही विरक्ति अनुभव करेगा जबकि धूर्त और षड्यन्त्रकारी व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट होगा। ओथेलो और इयागो एक ही कार्य के भिन्न-भिन्न परिणामों की प्राक्कल्पना करते हैं, क्योंकि दोनों के चरित्र भिन्न-भिन्न किस्म के हैं। इस प्रकार मनुष्य के आशय या प्रयोजन का निर्माण मानवीय प्रकृति की शक्तियाँ करती हैं और वही उसे कार्य की ओर प्रवृत्त करती हैं और पहले से ही अवलोकित परिणाम मनुष्य को काम की ओर इसलिए प्रेरित करते हैं, क्योंकि वह उन्हें गौरव की वस्तु समझता है और उनकी कामना करता है। प्रेरक प्रयोजन और आशय का भेद स्वयं तथ्यों में निहित नहीं है, बल्कि वह महज़ हमारे विश्लेषण का परिणाम है और इस बात पर निर्भर है कि हम कार्य के संवेगात्मक पहलू पर अधिक बल देते हैं या बौद्धिक पहलू पर। उपयोगितावादी दृष्टिकोण का सैद्धान्तिक महत्त्व इसी कारण है कि वह हमें इस बात को न भूलने के लिए सचेत करता है कि किसी भी कार्य में बौद्धिक तत्त्व अर्थात् परिणामों के पूर्वावलोकन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। और इसी प्रकार प्रेरक प्रयोजन पर बल देने वाले सिद्धान्त का क्रियात्मक महत्त्व इस बात में है कि वह हमारा ध्यान इस बात की ओर खींचता है कि किसी भी कार्य में निहित बौद्धिक तत्त्व क्या दिशा अख़्तियार करता है, इसमें मनुष्य का चरित्र, उसकी व्यक्तिगत प्रकृति और अभिवृत्ति भी हिस्सा लेते हैं।

किन्तु इस सिद्धान्त के चरम रूप में भी हम वही एकपक्षीयता का दोष पाते हैं जो बेन्थम के आशय के सिद्धान्त में है, हालाँकि इसमें वह सर्वथा विपरीत दिशा में है। इस सिद्धान्त में कुछ समझदारी देख पाना सम्भव है कि नैतिक दृष्टि से 'इच्छा' का ही कुछ महत्त्व है, परिणामों का नहीं। किन्तु वह तभी हो सकता है जबकि हम यह स्वीकार कर लें कि इच्छा का अर्थ परिणामों को पहले से देखने की, दृढ़निश्चयपूर्ण प्रयोजन निर्धारित करने की और समस्त सम्भव प्रयत्नों को कुछ अभिप्रेत परिणामों के उत्पादन के लिए लगाने की सक्रिय प्रवृति है। यह विचार कि परिणामों की नैतिक दृष्टि से कोई संगति या महत्त्व नहीं है, सिर्फ इसी अर्थ में

सत्य है कि हर काम के हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे परिणाम होंगे, जिनकी पहले से कल्पना नहीं की जा सकती, चाहे उसके लिए कितनी ही उत्कट इच्छा क्यों न हो। जब हम कोई निर्माण-कार्य करते हैं तो वह ठीक वैसा ही नहीं होता, जैसा कि हम चाहते हैं, वह उससे घटिया या बेहतर होता है। मनुष्यों की अच्छी-से-अच्छी सुविचारित योजनाएँ भी वास्तविक परिणामों के समय चूहों की योजनाओं की भाँति अनियन्त्रित सम्भावनाओं पर ही न्यूनाधिक निर्भर करती हैं। किन्तु मनुष्य के आशय की इस सीमितता को हम इस सिद्धान्त में परिणत नहीं कर सकते कि 'प्रेरक प्रयोजन' और 'इच्छा' जैसी किसी चीज़ का अस्तित्व भी है जो परिणामों के प्रक्षेप से या उन्हें उत्पन्न करने के प्रयत्न से भिन्न है। 'इच्छा' का अर्थ यदि हम आवेग, कामना और विचार की ऐसी एकता मानें जो भावी वस्तु की पहले से कल्पना करती और योजना बनाती है, तो उस अर्थ में वह नैतिकता की केन्द्रीभूत वस्तु होगी, सिर्फ इसलिए कि वह प्रकृत्या ही परिणामों के नियन्त्रण में सबसे अधिक सतत और प्रभावकारी उपादान है।

चरित्र पर हम जो बल दे रहे हैं, वह किसी खास किस्म के नैतिकता के सिद्धान्त की विशेषता नहीं है। हमारी प्रधान दिलचस्पी की चीज़ तो व्यक्तियों की अभिव्यक्ति और उनकी पारस्परिक क्रिया है। यही दिलचस्पी हम नाटक में देखते हैं, जहाँ कि भावुकतापूर्ण सुखान्त अभिनयों को छोड़कर, अन्यत्र घटनाओं का चित्र-विचित्र प्रदर्शन चरित्र का ही बाह्य प्रदर्शन होता है। राजनीतिक विचारधारा में भी हम यह बात देखते हैं कि उसका सम्बन्ध व्यक्तित्व के साथ उचित मात्रा में नहीं, बल्कि उचित से अधिक होता है; यहाँ तक कि वह महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और सिद्धान्तों को भी अनुचित रूप से क्षति पहुँचाता है। नाटक के लिए हैमलेट, मैकबेथ, नीरा और टारटफ का जो स्थान है, वही राजनीति के लिए रूज़वेल्ट, विल्सन, लॉयड जॉर्ज और मुसोलिनी का है। व्यावहारिक कारणों से अपने दैनिक जीवन में हमारा चरित्र से सम्बन्ध और साबिका पड़ता है। चाहे हम चीज़ खरीदें या बेचें, धन उधार दें या हुण्डियों में पैसा लगाएँ, चिकित्सक को बुलाएँ या वकील से मशविरा करें, किसी मित्र से सलाह लें या उसे ठुकराएँ या किसी के प्रेम में आसक्त हों और उससे विवाह करें, सबका अन्तिम परिणाम सम्बद्ध चरित्रों पर निर्भर करेगा।

## 5. सिद्धान्त की वर्तमान आवश्यकता

आनुषंगिक रूप से यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि आज के युग में विमर्शात्मक नैतिकता और नैतिकता के व्यावहारिक सिद्धान्त की विशेष रूप से आवश्यकता है। संसार और जीवन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण आमूलचूल बदल गया है और अब भी बदल रहा है। उद्योग और वस्तुओं के उत्पादन और वितरण

के तरीकों का बिलकुल कायाकल्प हो गया है। जिन बुनियादी शर्तों पर लोग काम के लिए या विनोद के लिए परस्पर मिलते या अपने संगठन बनाते हैं, वे बदल गई हैं। पुरानी आदतें और परम्पराएँ अत्यधिक अस्त-व्यस्त हो गई हैं। यात्रा और प्रव्रजन किसी ज़माने में जितने असाधारण थे आज उतने ही साधारण और आम हो गए हैं। आज जनता पढ़ने-लिखने लायक हो गई है और ऐसी उर्वर पत्र-पत्रिकाओं की भरमार है, जो लोगों को पढ़ने के लिए सस्ती सामग्री उपलब्ध कराती हैं। स्कूल की शिक्षा आज कुछ थोड़े-से लोगों का सौभाग्य या विशेषाधिकार नहीं रह गई है; इसके विपरीत वह बहुसंख्यक लोगों का अधिकार, बल्कि अनिवार्य कर्त्तव्य बन गई है। पहले समाज कुछ ऐसे वर्गों में बँटा हुआ था, जो काफी हद तक समजातीय थे, परन्तु आज वह वर्गीकरण छिन्न-विच्छिन्न हो गया है। विभिन्न परिस्थितियों और परम्पराओं में पले व्यक्तियों और समाजों के परस्पर मिलन का क्षेत्र आज असाधारण तौर पर विस्तृत हो गया है। आज संयुक्त राज्य अमेरिका के किसी बड़े नगर के एक ही वार्ड में बीस से पचास तक विभिन्न जातियों के लोग हो सकते हैं। पहले जो बाधाएँ राष्ट्रों को एक-दूसरे से अलग करती थीं वे आज रेल, जहाज़, तार, टेलीफोन और रेडियो के कारण कम महत्त्वपूर्ण रह गई हैं।

सामाजिक परिस्थितियों और दिलचस्पियों में हुए अधिक प्रत्यक्ष परिवर्तनों में से सिर्फ कुछ का ही यहाँ उल्लेख किया गया है। इनमें से हरेक ने नई समस्याएँ और नये प्रश्न खड़े कर दिए हैं जिनमें ऐसे नैतिक मूल्य हैं जो अनिश्चित और विवादग्रस्त हैं। राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता, पूँजी और श्रम, युद्ध और शान्ति, विज्ञान और धार्मिक परम्परा, प्रतिस्पर्धा और सहयोग, उद्योग-क्षेत्र में मुक्त व्यापार और राजकीय आयोजन, प्रशासन में लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र, ग्रामीण जीवन और शहरी जीवन, व्यक्तिगत काम और नियन्त्रण बनाम पूँजी-निवेश और शेयरों और हुंडियों के द्वारा पापपूर्ण धनोपार्जन, देशी और विदेशी, यहूदी और गैर-यहूदी का सम्बन्ध, गोरे और काले का सम्बन्ध, कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट का और इसी तरह नये धर्मों का सम्बन्ध—इस तरह के असंख्य सम्बन्धों ने नई समस्याओं को हमारे सामने ला खड़ा किया है, जिन्हें न तो पुरानी रूढ़ियाँ हल कर सकती हैं और न पुराने विश्वास। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन जिस तेज़ गति से आते हैं वे नैतिक अस्थिरता पैदा करते हैं और उन बहुसंख्यक संबंधों को ध्वंस की ओर ले जाते हैं, जो रूढ़िजन्य नैतिकता के मुख्य संरक्षक रहे हैं। संसार के इतिहास में ऐसा कोई समय नहीं रहा जबकि मानवीय सम्बन्धों और उनके साथ सम्बद्ध अधिकारों और कर्त्तव्यों, अवसरों और तकाजों पर सतत रूप में और विधिपूर्वक बौद्धिक विचार की इतनी आवश्यकता रही हो जितनी कि आज है।

ऐसे लोग भी हैं जिनमें नैतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के महत्त्व को कम

करके दिखाने की प्रवृत्ति रहती है। वे यह मानते हैं कि नैतिक विषयों पर लोग जितना अमल करते हैं उससे कहीं अधिक पहले से ही जानते हैं और सब बुनियादी नैतिक सिद्धान्तों पर उनमें एक सामान्य मतैक्य है। आम तौर पर ऐसे लोगों को आप किसी खास परम्परा का अनुयायी पाएँगे और यह देखेंगे कि उनके सिद्धान्तों को वे अन्तिम और पूर्ण रूप से प्रामाणिक समझते हैं। किन्तु वास्तव में लोगों में मतैक्य अधिकतर कुछ अवधारणाओं के बारे में ही होता है, जो बहुत अस्पष्ट रूप में ग्रहण की जाती हैं और जिन पर व्यवहार में अमल नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए न्याय को लीजिए। इसके बारे में निश्चित रूप से लोगों में मतैक्य है। जिसका जो प्राप्य है, उसे वह जरूर दिया जाना चाहिए। किन्तु क्या व्यक्तिवादी प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद एक न्यायपूर्ण प्रणाली है? क्या समाजवाद अथवा कम्युनिज़्म न्यायपूर्ण हैं? क्या समाज की व्यक्तिगत रूप से सेवा किए बिना बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ उत्तराधिकार में प्राप्त करना न्यायपूर्ण है? कौन-सी कर-प्रणाली न्यायोचित है? स्वतन्त्र व्यापार और संरक्षण की माँगों के पीछे क्या नैतिक आधार है? सतीत्व और पातिव्रत्य की वांछनीयता पर शायद ही कोई सन्देह या आपत्ति करेगा, किन्तु उसके अर्थ की कोई एक व्याख्या नहीं है, विभिन्न तरह की व्याख्याएँ की जाती हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का अविवाहित रहना विवाह की अपेक्षा ईश्वर को अधिक प्रिय है? यह विचार आज आम तौर पर नहीं माना जाता, किन्तु पुराने जमाने में इसका जो प्रचलन रहा है वह आज भी ब्रह्मचारियों के विश्वासों और व्यवहारों को प्रभावित करता है। पातिव्रत्य का एक नैतिक विचार के रूप में तलाक, सन्तति-निरोध या राज्य द्वारा साहित्य पर प्रतिबन्ध से क्या सम्बन्ध है? मानवीय जीवन एक पवित्र वस्तु है। किन्तु आधुनिक औद्योगिक युग के उन बहुत-से कार्यों के बारे में आप क्या कहेंगे, जो स्वास्थ्य का नाश कर देते हैं और दुर्घटनाओं का कारण बनते हैं? इसी तरह युद्ध के सम्बन्ध में भी आप क्या कहेंगे जिसकी तैयारियाँ आधुनिक राज्यों के राजस्व का मुख्य भाग खा जाती हैं?

और इस प्रकार हम उन गुणों और कर्त्तव्यों की लम्बी सूची पर दृष्टि डाल कर सकते हैं जिन्हें सुदीर्घ काल ने हमारी नज़रों में सम्माननीय बना दिया है और यह दिखा सकते हैं कि परिस्थितियों के परिवर्तन ने उनके व्यावहारिक अर्थ को अनिश्चित और विवादग्रस्त बना दिया है। उदाहरण के लिए, उद्योगों में काम करने-वाले कर्मचारियों और उन्हें काम पर लगानेवाले नियोक्ताओं में जो अंतर है अंततः वह नैतिक कसौटियों और दृष्टिकोण का ही अन्तर है। ये दोनों परस्पर भिन्न मूल्यों को स्वीकार करते हैं और यह दावा करते हैं कि उन्हींके मूल्य अधिक ऊँचे हैं। यही बात पक्के राष्ट्रवादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी के बीच में, शान्तिवादी और सैनिकवादी के बीच में, धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति और किसी धर्म के कट्टर अनुयायी के बीच में विद्यमान अन्तर के बारे में सही है। हमारा एक क्षण के लिए भी यह

अभिप्राय नहीं है कि नैतिकता का सिद्धान्त इन प्रश्नों का सीधा और अन्तिम उत्तर दे सकता है। किन्तु हमारा अभिप्राय यह है कि इन प्रश्नों का समाधान केवल परम्परा से चिपटे रहकर या आकस्मिक आवेग और क्षणिक स्फुरण पर भरोसा करके ही नहीं दिया जा सकता। यदि सब आदमी गम्भीरता और ईमानदारी से यह स्वीकार भी कर लें कि वे बाइबिल में वर्णित सुनहरे नियम का ही आचरण के सर्वोच्च नियम के रूप में पालन करेंगे, तो भी हमें यह निश्चय करने के लिए जाँच और विचार-विमर्श की आवश्यकता होगी कि आज की मिश्रित और परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में मूर्त्त व्यवहार के लिए इस सुनहरे नियम का अर्थ क्या है, भले ही वह उसका तात्कालिक अर्थ हो। अमूर्त्त सिद्धान्त पर यदि एक आम सार्वत्रिक मतैक्य हो भी जाए तो भी उसका मूल्य सिर्फ इसी बात में होगा कि वह परस्पर मिलकर सहयोगपूर्वक अध्ययन और विचारपूर्ण आयोजन के लिए एक प्रारम्भिक आधार होगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह विधिपूर्वक और संगत विचार-विमर्श के लिए तैयारी होगा।

## 6. नैतिकता के सिद्धान्त के मूल-स्रोत

कोई भी सिद्धान्त शून्य में नहीं चल सकता। नैतिक हो या भौतिक, हर सिद्धान्त को कुछ विश्वसनीय दत्त सामग्री और बुद्धिगम्य आधारभूत प्राक्कल्पनाओं की आवश्यकता होती है। नैतिकता का सिद्धान्त इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामग्री कहाँ से ग्रहण करेगा?

1. यह ठीक है कि जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन की जो बात कही गई है वह सही है, परन्तु फिर भी पुरानी परिस्थितियों का सातत्य और तार पूरी तरह नहीं टूटा है। मानवीय जीवन के प्रारम्भ से ही, मनुष्य मानवीय जीवन के सम्बन्धों में क्या उचित और न्यायपूर्ण है, इस सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे हैं और उनके आधार पर आचरण की संहिताएँ बनाने में व्यस्त रहे हैं। मताग्रही व्यक्ति, चाहे वह परम्परा के कारण मताग्रही बना हो और चाहे किसी विशेष अन्तर्दृष्टि के कारण, जिसे वह अपनी निज की बताता है, बहुत-सी परस्पर विरोधी आचार-संहिताओं में से सिर्फ उसीको चुनेगा जो उसकी अपनी शिक्षा और रुचि के बहुत अधिक अनुकूल होगी। किन्तु जो नैतिकता सच्चे अर्थों में विमर्शात्मक होगी, वह सभी संहिताओं को अपने विमर्श के लिए संभावित आधारभूत दत्त सामग्री के रूप में ग्रहण करेगी; वह उन परिस्थितियों पर विचार करेगी जिनमें वे पैदा हुईं; उन पद्धतियों को सोचेगी जिनकी वजह से चेतन या अचेतन रूप में उन्हें निर्धारित और स्वीकृत किया गया और अन्त में वह वर्तमान परिस्थितियों में उनकी व्यवहार्यता के बारे में जाँच और अध्ययन करेगी। वह न तो उनमें से किसी एक पर कट्टरता से आग्रह करेगी, और न उन सबको अर्थहीन बताकर

अनादृत करेगी। वह उन्हें सूचना और ज्ञान के भंडार तथा सही और अच्छे के संभावित संकेत के रूप में ग्रहण करेगी।

2. संहिताओं और अभिशस्तियों के रूप में उपलब्ध इस सामग्री से सम्बद्ध कुछ और सामग्री भी है जिसका चेतन रूप से विस्तार किया गया है और वह है कानूनी इतिहास, न्यायिक निर्णय और विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यवाही। इस सामग्री में हमें मानवों द्वारा अपने आचरण में निर्देशित करने के सिद्धान्तों के निर्धारण के लिए एक लम्बी परीक्षण-शृंखला मिलती है। इसी तरह की कुछ चीज़ सभी महान् मानवीय परम्पराओं के बारे में सही भी है। परिवार, उद्योग, सम्पत्ति प्रणालियाँ, शासन और राज्य, शिक्षा और कला—इन सबका इतिहास मानवीय आचरण की पद्धतियों के निर्देशों और इस या उस पद्धति को अपनाने के परिणामों से भरा पड़ा है। इसी प्रकार की अनौपचारिक सामग्री जीवन-चरितों में भी, विशेषकर उन लोगों की जीवन-कथाओं में, जो मानव जाति के महान् नैतिक उपदेष्टा माने गये हैं, भरी हुई है।

3. एक साधन-सामग्री, जिसका उपयोग करने में मानव जाति बहुत पीछे रह गई और जिसका पर्याप्त उपयोग करना अभी उसने मुश्किल से ही शुरू किया है, विभिन्न विज्ञानों में, खासकर उन विज्ञानों में, पाई जाती है, जो मानव के अधिकतम निकट हैं; उदाहरणार्थ जीवविज्ञान, शरीर क्रिया-विज्ञान, स्वास्थ्य और चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान और मानसिक चिकित्सा-विज्ञान। यह सामग्री सांख्यिकी, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र में भी पाई जाती है। इनमें से आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शास्त्र सब मिलाकर हमारे सामने समस्याएँ ही उपस्थित करते हैं, समाधान नहीं। समस्याओं को अपने मन में अधिक स्पष्ट रूप में रखना अच्छा ही है और यह तथ्य, कि ये सामाजिक शास्त्र सामान्यतः अपनी अध्ययन-सामग्री पर नैतिक मूल्यों से सर्वथा स्वतन्त्र होकर विचार करते हैं, नीतिशास्त्रविद् के लिए बौद्धिक दृष्टि से कुछ लाभकारी है। कारण, यद्यपि नीतिशास्त्रवेत्ता को अब भी आर्थिक और राजनीतिक कथनों को नैतिकता की भाषा में परिणत करना पड़ता है, तो भी बौद्धिक निरपेक्षता और निष्पक्षता की कुछ गारण्टी रहती है, क्योंकि ये विज्ञान अपनी विषय-वस्तु पर विचार करते समय बँधे-बँधाए और निर्धारित नैतिक नियमों से काफी अलिप्त रहते हैं। यह सम्भव है कि ये नैतिक नियम केवल परम्परा और स्वभाव के पूर्वाग्रह-मात्र हों, इसलिए यह अलिप्तता आवश्यक होती है। जीवविज्ञान और मनोविज्ञान से ऐसी अत्यन्त मूल्यवान पद्धतियाँ निकाली जा सकती हैं जिनसे मानवीय और सामाजिक समस्याओं का अध्ययन और नये विशाल क्षेत्रों के लिए द्वार का उद्घाटन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वास्थ्य की परिस्थितियों और परिणामों की खोज ने, जो ये विज्ञान अब तक कर चुके हैं, अपेक्षाकृत नये नैतिक

हितों और उत्तरदायित्वों के लिए रास्ता खोल दिया है। आज स्वास्थ्य और उसकी कारणभूत परिस्थितियों को केवल टैकनिकल या भौतिक विषय कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। उसके शाखा-प्रशाखामय विस्तार और उससे उत्पन्न होनेवाली नैतिक व्यवस्था या अव्यवस्था को बहुत स्पष्ट रूप में दिखाया जा चुका है।

4. इसके अलावा और भी बहुत-सी निश्चित रूप से सैद्धान्तिक विधियाँ और निष्कर्ष हैं, जो पिछले दो हजार वर्ष के यूरोप के इतिहास की विशेषता रहे हैं। और एशियाई विचारकों ने इससे भी अधिक सुदीर्घ काल में जो सिद्धान्त निकाले उनका तो कुछ कहना ही नहीं। मेधावी और मनीषी लोग विश्लेषण करने और उससे युक्तियुक्त आधार पर निदेशक सिद्धान्तों के विकास में व्यस्त रहे हैं। सभी तरह के विचारों और विकल्पों तथा उनके फलितार्थों का अध्ययन और विधिवत् निर्धारण किया गया है। सिद्धान्त-निर्माताओं ने जो विविध प्रकार की और तर्क की दृष्टि से परस्पर-विपरीत स्थापनाएँ कीं, उनको देखने से पहली दृष्टि में यह लगेगा कि मानो उनमें बहुत गड़बड़ी और परस्पर-विरोध है। किन्तु अधिक निकट से सूक्ष्म अध्ययन करने पर उनसे नैतिक परिस्थितियों की जटिलता का पता लगता है। यह जटिलता इतनी बड़ी है कि जहाँ हम हर सिद्धान्त को अनेक विचारणीय उपादानों और सम्बन्धों की उपेक्षा करते देखते हैं, वहाँ हम यह भी देखते हैं कि हर सिद्धान्त नैतिक जीवन के किसी ऐसे पहलू पर रोशनी डालता है जिस पर विचार-विमर्श की आवश्यकता थी और जो इसके बिना छिपा ही रह जाता। इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि हमें विभिन्न सिद्धान्तों में एक यान्त्रिक सामंजस्य स्थापित करना या उनमें से अच्छी चीज़ें लेकर उनका गठजोड़ कर लेना चाहिए, बल्कि हमारा निष्कर्ष यह होना चाहिए कि हर नैतिक विचारधारा कुछ ऐसे दृष्टिकोणों को प्रकाश में लाती है, जिनसे हमें अपनी निज की परिस्थितियों पर विचार और अध्ययन करना चाहिए। सिद्धान्त कम-से-कम कुछ ऐसे प्रश्न हमारे सामने उपस्थित करते हैं जिनसे हम वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन कर सकते और उन्हें चुनौती दे सकते हैं।

## 7. समस्याओं का वर्गीकरण

इस द्वितीय खण्ड के शेष भाग में हम मुख्यतः कुछ ऐसे प्रमुख नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार करेंगे जिन्होंने सभ्यता पर नैतिक प्रभाव डाला है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन से कुछ ऐसी बातें हमारे सामने आती हैं जिनसे मालूम होता है कि कुछ चीज़ों पर कुछ सिद्धान्तों में अधिक बल दिया जाता है और कुछ में कम और उससे कुछ बौद्धिक समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं। नीति सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार करने से पूर्व विद्यार्थी को इन्हें जान लेना चाहिए। मोटे तौर पर

यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्तों में परस्पर भेद और अन्तर का मुख्य कारण यह है कि उनमें से कुछ में प्रयोजनों और उद्देश्यों पर मुख्यतः बल दिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि श्रेयस् की संकल्पना को ही अन्तिम माना जाता है। दूसरी ओर कुछ सिद्धान्तों में कानून और नियमन को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि उनमें **कर्त्तव्य** और **अधिकार** की प्रधानता को सर्वोपरि माना जाता है। एक तीसरी श्रेणी ऐसी भी है जो अनुमोदन और अननुमोदन, प्रशंसा और निन्दा को ही मुख्य नैतिक तथ्य मानती है और इस प्रकार इनकी परिणति **सदाचरण** और **दुराचरण** को केन्द्रीय विचार के रूप में मान्यता देने में होती है। इनमें से हरेक विचारधारा में भी, श्रेयस् क्या है, कर्त्तव्य, कानून और अधिकार क्या हैं और विभिन्न सत् कार्यों की सापेक्ष स्थिति क्या है, ऐसे प्रश्नों पर अनेक मतभेद हैं।

1. यह एक मानी हुई बात है कि मनुष्य अपने लिए कुछ प्रयोजन निर्धारित करते हैं और उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं। यदि यह पूछा जाए कि वे ऐसा क्यों करते हैं और हम उसका यह उत्तर न देना चाहें कि वे केवल रूढ़ि के अन्धानुपालन से ही ऐसा करते हैं तो इस प्रश्न का केवल एक ही जवाब होगा कि वे कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐसा करते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि इन उद्देश्यों के कुछ अपने आन्तरिक मूल्य हैं, वे अच्छे हैं और मनोरम हैं। व्यावहारिक मामलों में तर्क का मुख्य विषय यह है कि सिर्फ अच्छे प्रतीत होनेवाले उद्देश्यों में और उन उद्देश्यों में जो वास्तव में अच्छे हैं, भेद किया जाए, अर्थात् ऊपर से अच्छे दीखनेवाले किन्तु वास्तव में धोखा देनेवाले श्रेयस् को स्थायी रूप से सच्चे श्रेयस् से अलग किया जाए। मनुष्यों में कुछ कामनाएँ होती हैं, जो बिना विचार-विमर्श किये तत्काल कुछ चीज़ें चाहते हैं—उदाहरण के लिए, भोजन, एक साथी, पैसा, कीर्ति और प्रसिद्धि, स्वास्थ्य, अपने साथियों में विशिष्टता, सत्ता, मित्रों का प्रेम और प्रतिद्वन्द्वियों से प्रशंसा आदि। किन्तु वे ये सब चीज़ें क्यों चाहते हैं? इसलिए कि उनका कुछ मूल्य समझा जाता है; इसलिए कि वे अच्छे माने जाते हैं। जैसा कि तार्किकों का कहना है—हम हर विशिष्ट उद्देश्य के भीतर अन्तर्निहित श्रेयस् को चाहते हैं; समस्त विशिष्ट उद्देश्यों में, जिनके लिए हम प्रयत्न करते हैं, श्रेयस् का, सन्तुष्टि प्रदान करनेवाले श्रेयस् का, एक सर्वसामान्य विचार अन्तर्हित होता है। जिन सिद्धान्तों में **उद्देश्यों** को ही नैतिक आचार में महत्त्वपूर्ण माना गया है, वे श्रेयस् की कल्पना को अपना मध्यबिन्दु मानते हैं। मनुष्य आम तौर पर उन वस्तुओं को भी पहले से अच्छा मान लेते हैं जो वास्तव में अच्छी नहीं होतीं, इसलिए इस वर्ग के सिद्धान्तों की समस्या अच्छी **प्रतीत होनेवाली** और **वस्तुतः** अच्छी वस्तुओं में, दूसरे शब्दों में नित्य श्रेयस् और अनित्य श्रेयस् में, भेद करने की होती है। इसलिए अभिवृत्ति और प्रवृत्ति की दिशा से देखा जाए तो बुनियादी चीज **अन्तर्दृष्टि**

और बुद्धि है, जो उन उद्देश्यों को, जो हमें सन्तोष की मिथ्या आशा प्रदान करते हैं, उन उद्देश्यों से पृथक् करती है जो वस्तुतः सन्तोषप्रद हैं। इस दृष्टि से नैतिकता की सबसे बड़ी समस्या सही ज्ञान की प्राप्ति है।

2. मानवीय ज्ञान के अन्य प्रेक्षकों की दृष्टि में इच्छा और तृष्णा का दमन उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक बुनियादी है। उनमें से बहुत-से कामना के सिद्धान्त और उससे सम्बद्ध उद्देश्य को भी सन्देह की नज़र से देखते हैं। इच्छा या कामना उन्हें इतनी व्यक्तिगत और अपनी तृप्ति के लिए इतनी आतुर प्रतीत होती है कि वे उसीको प्रलोभन का स्रोत और लोगों के कानून-सम्मत मार्ग से हटने का कारण मानते हैं। अनुभव में ये विचारक जब मानवीय शासन में आदेशों और निषेधों को तथा आवेशों और कामनाओं की लीला को नियन्त्रित करनेवाली सब वस्तुओं को इतना महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते देखते हैं तो दंग रह जाते हैं। उनकी दृष्टि से सबसे बड़ी समस्या किसी ऐसी अन्तर्निहित प्रामाणिक सत्ता को खोजना है, जो उद्देश्यों और प्रयोजनों के निर्धारण को नियन्त्रित करेगी। निम्न श्रेणी के जानवर इच्छा और भूख का अनुगमन इसलिए करते हैं कि उनमें किसी नियामक कानून की कोई धारणा नहीं है। लेकिन मनुष्यों में यह चेतना रहती है कि वे आवेग और इच्छा से भी ऊँचे किसी सिद्धान्त से बँधे हुए हैं। जो वस्तु नैतिक दृष्टि से सही है और जो प्रकृत्या सन्तोष और तृप्ति प्रदान करनेवाली है उन दोनों में अक्सर विरोध होता है और नैतिक संघर्ष का मुख्य प्रयोजन यह होता है कि श्रेयस् को भी कर्त्तव्य के तकाजे के आगे समर्पित कर दिया जाए। उद्देश्यों को ही सर्वोपरि माननेवाले सिद्धान्त को **उद्देश्यपरक सिद्धान्त** या टेलियोलोजिकल थ्योरी (ग्रीक भाषा के टेलोस शब्द से जिसका अर्थ उद्देश्य है) कहते हैं। और जो सिद्धान्त कानून और कर्त्तव्य को सर्वोपरि मानता है, उसे **विधिपरक सिद्धान्त** या जूरल थ्योरी कहते हैं।

3. विचारकों का एक और वर्ग भी है जो यह अनुभव करता है कि उद्देश्यों और तार्किक अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त मानवीय प्रकृति में बौद्धिक तत्त्व पर उचित से अधिक बल देता है और कानून और कर्त्तव्य का सिद्धान्त अत्यधिक कानूनी, बाह्य और कठोर है। वे यह देखकर चकित हो जाते हैं कि अनुमोदन और निन्दा, प्रशंसा और दोषारोपण, पुरस्कार और दण्ड, कुछ कार्यों को प्रोत्साहन और कुछ पर रोष तथा निन्दनीय और अवांछनीय समझे जानेवाले कार्यों से रोकने के लिए लोगों पर दबाव का मानवीय जीवन में बहुत बड़ा हिस्सा रहता है। वे मानवीय प्रकृति में कुछ खास प्रकार के आचरण को पसन्द करने की और कुछ कामों के लिए निन्दा और दण्ड की स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति देखते हैं। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती है कि कभी-कभी उसका विस्तार उन कामों से बढ़कर उन प्रवृत्तियों तक भी जा पहुँचता है जिनसे वे उद्भूत होते हैं। समाज द्वारा की जानेवाली विभिन्न प्रशंसाओं और अनुमोदनों के ढेर से सत् और असत् आचरण की धारणाओं का

उदय होता है। जिन प्रवृत्तियों की समाज प्रशंसा करता है और जिन्हें प्रोत्साहन देता है वे सच्चारित्र्य मानी जाती हैं और यह समझा जाता है कि मनुष्य को उनका विकास करना चाहिए; दूसरी ओर जिन प्रवृत्तियों की निन्दा की जाती है, वे दुराचरण या दोष समझी जाती हैं। जो लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, उन्हें यह सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि रूढ़िगत नैतिकता में स्तुति और निन्दा का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। विमर्शात्मक नैतिकता की और फलतः विमर्शात्मक नैतिकता के सिद्धान्त की, समस्या यह है कि वर्तमान सामाजिक अनुमोदन और निन्दा में निहित पैमाने और कसौटी को उघाड़कर रख दे। सामान्यतः इस सिद्धान्त को माननेवाले इस बात से सहमत हैं कि आम तौर पर लोग परोपकार के कामों और प्रेरक प्रयोजनों को पसन्द करते या उनकी प्रशंसा करते हैं और दूसरों को लाभ के बजाय हानि पहुँचाने वाले कामों की निन्दा करते हैं। विमर्शात्मक नैतिकता लोकप्रिय नैतिक निर्णयों के इस सिद्धान्त को चेतन और तार्किक दृष्टि से स्वीकरणीय और व्यवहार्य बनाती है।

आनेवाले अध्यायों में हम इन तीन प्रकार के सिद्धान्तों और उनके विभिन्न उपविभागों पर विचार करेंगे। हमारा उद्देश्य यह जानना उतना नहीं होगा कि इनमें से कौन-सा सिद्धान्त सही और कौन-सा ग़लत है, जितना कि यह जानना होगा कि हर वर्ग विमर्शात्मक नैतिकता के स्पष्टीकरण और निर्देशन के लिए स्थायी मूल्य के कौन-से उपादान प्रदान करता है।

2

# उद्देश्य, श्रेयस् और बुद्धि

## 1. विमर्श और उद्देश्य

मनुष्य को किस उद्देश्य के लिए जीना चाहिए यह प्रश्न रूढ़िगत नैतिकता में आम समस्या के रूप में नहीं उठता। मनुष्य अपने चारों ओर जो आदतें और प्रथाएँ पाता है, वे इस प्रश्न की पेशबन्दी कर देती हैं। दूसरे लोग, खासकर बड़े बुजुर्ग लोग, जो कुछ काम करते हैं वही अन्य लोगों के लिए उद्देश्य बन जाते हैं। इन उद्देश्यों के पीछे परम्पराओं की स्वीकृति और मान्यता रहती है। मनुष्य अपने पूर्वजों को अर्धदेवता की भाँति पूजनीय मानता है, इसलिए उनके द्वारा स्थापित की गई परम्पराएँ भी सम्माननीय समझी जाती हैं। बुद्धिमान बुजुर्ग उनकी स्थापना करते हैं और शासक उन्हें समाज में प्रवर्तित करते हैं। कुछ व्यक्ति इन प्रस्थापित प्रयोजनों के पथ से हटकर उनका उल्लंघन करते हैं, किन्तु वे यह जानते हुए ही ऐसा करते हैं कि उससे उन्हें समाज की निन्दा का पात्र बनना पड़ेगा और देवता लोग उसके लिए उन्हें अतिप्रकृत दण्ड देंगे। आज ऐसे नर-नारियों की संख्या बहुत बड़ी है जो यह देखकर कि उनके चारों ओर क्या हो रहा है, उसके आधार पर अपने उद्देश्य निर्धारित करते हैं। वे धार्मिक उपदेष्टाओं, राजनीतिक अधिकारियों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट किये गए उद्देश्यों को स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा न करने का अर्थ बहुत-से लोगों की दृष्टि में एक प्रकार का नैतिक विद्रोह या अराजकता होता है। बहुत-से अन्य लोग यह अनुभव करते हैं कि उनके उद्देश्य उनपर बलात् लाद दिये गए हैं। शिक्षा के अभाव और आर्थिक दबाव के कारण अधिकतर वे वही करते हैं जो उन्हें करना पड़ता है। वास्तविक चयन की संभावना के अभाव में उद्देश्यों पर विचार-विमर्श तथा उद्देश्यों और श्रेयस् का आम सिद्धान्त निर्धारित करने का प्रयत्न व्यर्थ की विलासिता-मात्र प्रतीत होगा।

किन्तु विमर्शात्मक नैतिकता-जैसी चीज तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि लोग गम्भीरता से यह प्रश्न न करें कि वे अपने आचरण को किन प्रयोजनों से और कैसे निर्देशित करें और वह कौन-सी वस्तु है जो उनके प्रयोजनों को अच्छा बनाती है। जब रूढ़ियाँ आवश्यक पथ-प्रदर्शन देने में असमर्थ रहती हैं तब उद्देश्यों के इस बौद्धिक अनुसंधान की आकांक्षा पैदा होना अनिवार्य है। यह असमर्थता तब पैदा होती है जब पुरानी परम्पराएँ जवाब दे जाती हैं; जब बाहर से आक्रमण

और भीतर से आविष्कार और नवीनताएँ जीवन के मार्ग को आमूलतः बदल देती हैं।

यदि मनुष्य की आदतें जवाब दे जाएँ तब रूढ़िवादिता और मनमानेपन से बचने का एक ही रास्ता रह जाता है और वह है विमर्श। मनुष्य को क्या करना चाहिए, इस पर विचार-विमर्श और उद्देश्यों का निर्धारण एक ही चीज़ है। इसके अतिरिक्त जब सामाजिक परिवर्तन बहुत बड़ा होता है और बहुत-से परस्पर-विरोधी उद्देश्य सुझाए जाते हैं तब विचार-विमर्श पहिले ही से सुझाए गए बहुत-से उद्देश्यों में से किसी एक के चयन तक सीमित नहीं रह सकता। नये उद्देश्यों के निर्धारण के लिए विचार-विमर्श सृजनात्मक होना चाहिए।

हर आदत मनुष्य की क्रिया में सातत्य का समावेश करती है। वह उसे एक स्थायी सूत्र या धुरी प्रदान करती है। जब रूढ़ि नष्ट हो जाती है तब मनुष्य के विभिन्न कामों की शृंखला को परस्पर जोड़नेवाली एकमात्र वस्तु एक सामान्य प्रयोजन होता है, जो सब अलग-अलग कामों में सर्वनिष्ठ रूप से विद्यमान रहता है। एक परिलक्षित उद्देश्य मनुष्य के कार्यों को एकता और सातत्य प्रदान करता है; फिर चाहे वह उद्देश्य शिक्षा की प्राप्ति हो, किसी सैनिक अभियान की पूर्ति हो या मकान का निर्माण हो। उद्देश्य जितना व्यापक होगा, उससे उत्पन्न होनेवाला एकत्व भी उतना ही व्यापक होगा। अधिक व्यापक उद्देश्य अनेक वर्षों की दीर्घ अवधि में किये गए कार्यों का भी परस्पर संयोजन कर देता है। एक साधारण सिपाही के लिए, बल्कि एक सैन्य-संचालक के लिए भी, अभियान को जीतना इतना व्यापक उद्देश्य हो सकता है कि वह समस्त कार्यों का एकीकरण कर उन्हें आचरण में परिणत कर दे। किन्तु इस पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि अच्छा, तो इससे क्या हुआ? अभियान को जीतने से जो विजय प्राप्त होगी उसका उपयोग किन कामों में किया जाएगा? कम-से-कम यह प्रश्न तो किया ही जा सकता है, बशर्ते कि लोग अपने व्यवहार में बुद्धिपूर्वक दिलचस्पी लें और केवल [illegible] और क्षणिक दबाव से ही प्रभावित न हों। **आचरण में विमर्श के प्रयोग के लिए व्यापक और स्थायी उद्देश्यों का विकास अनिवार्य शर्त है; असल में ये दोनों एक ही तथ्य के दो नाम हैं।** जहाँ किन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति की अभिलाषा से कार्य नहीं किया जाता वहाँ विमर्शात्मक नैतिकता हो ही नहीं सकती।

जैसे हर घटना के कुछ परिणाम होते हैं, वैसे ही आदत और आवेग के भी कुछ परिणाम होते हैं। किन्तु आदत, आवेग और तृष्णा केवल अपने-आपमें मनुष्य में यह सामर्थ्य पैदा नहीं कर सकते कि वह उनके कार्यों के परिणामों को पहले से देख सके। एक प्राणी भूख से प्रभावित होकर कार्य करता है और उसका परिणाम उसकी क्षुधा-तृप्ति और शरीर का पोषण होता है। किन्तु मानव को इस बात का परिपक्व अनुभव होता है कि भूख लगने पर उसे किस पदार्थ का सहारा लेना चाहिए,

भूख की तृप्ति में क्या-क्या बाधाएँ आती हैं और आहार की खोज में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं, इसलिए ये सब वस्तुएँ एक इन्सान को यह प्रतीति करा देंगी कि वह क्या चाहता है—इस ज्ञान का परिणाम ही पहले से कल्पित और वांछित एवं प्रचलित उद्देश्य होगा। व्यवहार के भी उद्देश्य होते हैं, किन्तु उन उद्देश्यों का अर्थ परिणाम होता है, जिनकी प्राप्ति हो जाने पर उनके लिए किया गया विशिष्ट कार्य समाप्त हो जाता है, परन्तु पहले से परिकल्पित या परिलक्षित उद्देश्य तब पैदा होता है जबकि किसी विशेष परिणाम की पहले से कल्पना कर ली जाती है और पहले से कल्पित होने के कारण वह कामना द्वारा चेतन रूप में अपना लिया जाता है और समझ-बूझकर कार्य का निदेशक प्रयोजन मान लिया जाता है। एक प्रयोजन या उद्देश्य वास्तव में एक कामना या प्रेरणा ही है, जो एक वस्तु के विचार में रूपान्तरित कर दी गई है, जैसेकि अन्धी भूख आटा आदि किसी वांछित भोज्य पदार्थ के विचार के द्वारा एक उद्देश्य में परिणत कर दी जाती है और इस विचार से फिर यह विचार पैदा होता है कि आटे की प्राप्ति के लिए जमीन जोती जानी चाहिए और अनाज बोया जाना चाहिए। इस प्रकार कार्यों की एक पूरी शृंखला उद्देश्य बनकर हमारे सामने आ जाती है, जिसे हमें बुद्धिपूर्वक पूरा करना है।

इस प्रकार परिलक्षित उद्देश्य एक ओर किसी परिणाम की निरी भविष्यवाणी या पूर्वकल्पना से भिन्न है और दूसरी ओर वह निरी आदत या तृष्णा की प्रेरक शक्ति से भी भिन्न है। किसी परिणाम की निरी भविष्यवाणी से वह इसलिए भिन्न है, क्योंकि इसमें इच्छा, आवेगात्मक प्रेरणा और आगे की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति भी समाविष्ट हैं और निरी आदत या तृष्णा की प्रेरक शक्ति से वह इसलिए भिन्न है, क्योंकि इसमें कुछ बौद्धिक तत्त्व भी एक वस्तु के विचार के रूप में रहता है जो उस प्रेरणा को अर्थ और दिशा प्रदान करता है। प्रयोजन और इच्छा का यह सम्बन्ध नैतिक समस्याओं की एक पूरी श्रेणी का उद्गम स्रोत है। विद्या, किसी पेशे की दक्षता, सम्पत्ति और सत्ता की प्राप्ति तब तक अनुप्राणित करनेवाले प्रयोजन नहीं बन सकते जब तक कि किसी परिणाम का विचार आत्मा की किसी उत्कट आवश्यकता के साथ जुड़ा हुआ न हो, क्योंकि मानसिक आवेग को किसी वस्तु पर केन्द्रित इच्छाओं में परिणत करने के लिए विचार की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दूसरी ओर एक उत्कट लालसा में विचार को परे रखने की प्रवृत्ति रहती है। लालसा अपनी त्वरित तृप्ति के लिए जल्दबाजी में रहती है। एक उत्कट तृष्णा, उदाहरण के लिए प्यास, परिणामों का विचार किए बिना मनुष्य को तत्काल काम करने के लिए प्रेरित करती है, जैसे कि समुद्र में बहुत अधिक प्यास लगने पर मनुष्य में परिणामों की ओर ध्यान दिए बिना समुद्र का खारा पानी पीने की प्रवृत्ति होती है। दूसरी ओर सोच-विचार और जाँच में वक्त

लगता है। उनके लिए विलम्ब की, तात्कालिक कार्य को स्थगित करने की जरूरत होती है। किन्तु उत्कट लालसा तात्कालिक क्षण से आगे नहीं देखती, किन्तु विचार का स्वभाव ही है कि वह दूरस्थ उद्देश्य की ओर देखता है।

2. उद्देश्य और श्रेयस् : इच्छा और विचार का ऐक्य

इस प्रकार मनुष्य के अन्तर में एक द्वन्द्व रहता है। विचार-विमर्श जब मनुष्य में उद्बुद्ध होता है तो वह आगे की ओर देखने का, दूरतर परिणामों को खोजने और उन्हींको महत्त्व देने का संवेग पैदा करता है। किन्तु उत्कट लालसा की शक्ति, तात्कालिक आवश्यकता का प्रणोदन विचार को किसी ऐसे निकटवर्ती उद्देश्य की ओर खींच लाता है, जिसमें इच्छा अपनी तात्कालिक और प्रत्यक्ष संतुष्टि पाती है। इस प्रकार जो हिचक और द्वन्द्व मनुष्य में पैदा होते हैं वे उस सिद्धान्त की आधारभूमि हैं जो यह मानता है कि नैतिक जीवन में इच्छा और तर्क के बीच सहज द्वन्द्व चलता रहता है और जिसका यह विश्वास है कि तृष्णा और इच्छा हमारे सामने भ्रामक श्रेयस् उपस्थित कर हमें भ्रम में डालती है और उस सच्चे उद्देश्य से हमें परे हटा ले जाती हैं, जिसे तर्क हमारे सामने उपस्थित करता है। इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ है कि कुछ नीतिशास्त्रविद् यहां तक मानने लग गए हैं कि तृष्णा और आवेग स्वभावतः बुरी चीजें हैं, वे मानव वासना की अभिव्यक्तियाँ हैं, ऐसी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को उन उद्देश्यों से दूर हटाती हैं जिन्हें तर्क अनुमोदित करता है। किन्तु यह दृष्टिकोण असम्भव है। कोई भी विचार या वस्तु एक उद्देश्य के रूप में कार्य नहीं कर सकती, न प्रयोजन बन सकती है, जब तक कि वह किसी आवश्यकता के साथ सम्बद्ध न हो। आवश्यकता के साथ सम्बद्ध न होने पर वह निरा विचार-मात्र होगा, उसमें प्रेरक या प्रणोदक शक्ति नहीं होगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जब कोई द्वन्द्व पैदा होता है तो वह इच्छा और तर्क के बीच नहीं होता, बल्कि दो इच्छाओं के बीच में होता है, जिनमें से एक किसी निकटवर्ती वस्तु को चाहती है और दूसरी किसी ऐसी वस्तु को चाहती है, जो एक लम्बी कार्य-शृङ्खला के बाद यानी 'अन्ततोगत्वा' उपलब्ध होती है। यह संघर्ष विचार में प्रस्तुत दो वस्तुओं के बीच होता है, जिनमें से एक ऐसी इच्छा या तृष्णा के अनुरूप होती है, जो बिलकुल अलग-अलग होती है और दूसरी एक ऐसी इच्छा के अनुरूप होती है, जो अन्य इच्छाओं के साथ सम्बद्ध और सापेक्ष रूप में सोची जाती है। भय आदमी के मन में यह विचार पैदा कर सकता है कि भाग जाना या झूठ बोल देना ही ऐसे उद्देश्य हैं जिनको उसे तुरन्त पूरा करना चाहिए; किन्तु और अधिक विचार करने पर मनुष्य के मन में यह विश्वास पैदा हो सकता है कि दृढ़ता और सचाई उसे और भी अधिक व्यापक तथा और भी अधिक स्थायी श्रेयस् प्राप्त करा सकती हैं। विचार तो इन दोनों ही अवस्थाओं में

है। पहली अवस्था में विचार केवल व्यक्तिगत सुरक्षा का है और दूसरी में यह कहा जा सकता है कि विचार अपने स्थान पर डटे रहकर दूसरों की सुरक्षा का है। दोनों अवस्थाओं में इच्छा भी है। पहली में वह स्वाभाविक आवेग और सहजवृत्ति के निकट है और दूसरी में ऐसी इच्छा है जो विचार द्वारा सुदूरस्थ परिणाम को दृष्टि में लाए बिना पैदा न होती। **पहली अवस्था में मूल आवेग प्राप्य लक्ष्य के विचार को आदिष्ट करता है और दूसरी में यह मूल आवेग विचार द्वारा दृष्टि में लाये गए प्राप्य लक्षणों के कारण एक भिन्न इच्छा में परिवर्तित कर दिया जाता है।** किन्तु विचार का विषय चाहे कितना ही विस्तृत हो और चाहे कितना ही तर्क-संगत हो, तब तक वह अशक्त रहता है जब तक कि वह इच्छा को पैदा न करे।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि निरे आवेग या इच्छा में अपने-आप में कुछ बुराई नहीं है, किन्तु वे बुरे तब हो जाते हैं जबकि किसी दूसरी ऐसी इच्छा की तुलना में उन्हें रखा जाता है जिसकी विषयवस्तु में अधिक व्यापक और अधिक स्थायी परिणाम निहित रहते हैं। किसी भी इच्छा के प्रारम्भिक रूप में नैतिक दृष्टि से ख़तरनाक बात यह है कि उसमें उसके अपने अव्यवहित (तात्कालिक) लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति रहती है और वह व्यापक समग्र आचरण के विचार को तिरोहित कर देती है।

विलियम जेम्स ने इस स्थिति का इन शब्दों में सर्वथा उपयुक्त वर्णन किया है:

"किसी अबुद्धिमत्तापूर्ण आवेश से ग्रस्त व्यक्ति के लिए यह मानकर काम करने में क्यों कठिनाई होती है कि उसका आवेश अबुद्धिमत्तापूर्ण है? ... यह कठिनाई मानसिक है। कारण, वह बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य के विचार को मन के सामने ठहरने ही नहीं देती। जब कोई तीव्र आवेशात्मक स्थिति हमारे मन पर छा जाती है तब केवल वही बिम्ब हमारी दृष्टि के सम्मुख उभरते हैं जो उस आवेश के साथ संगत होते हैं; और कोई बिम्ब पैदा नहीं होता। यदि दूसरे बिम्ब संयोगवश सामने आ भी जाएँ तो वे तत्क्षण ही दबा दिए या बाहर निकाल दिये जाते हैं। ... हमारे आवेश में एक प्रकार की आत्मरक्षा की सहज-वृत्ति रहती है, और उसके कारण यह आवेश अनुभव करता है कि यदि ये शीतक वस्तुएँ (यानी बिंब) एक बार भी हावी हो गईं तो वे तब तक सक्रिय रहेंगी जब तक कि हमारी समूची मनःस्थिति से उत्पन्न चिनगारी, जो असली जानदार चीज़ है, बिल्कुल ठण्डी होकर बुझ नहीं जाएगी। इसलिए आवेश का सर्वदा और सर्वत्र प्रयत्न यह रहता है कि किसी तरह आत्मा की वह छोटी-सी शान्त आवाज़ सुनने ही न दी जाए।"[1]

1. प्रिंसिपल्स आफ साइकालोजी, खण्ड 2, पृष्ठ 562-63। पृष्ठ 561 से 569 तक का समूचा सन्दर्भ अध्ययन कीजिए। खण्ड 1, पृष्ठ 284-90 में अनुभति के चयनात्मक कार्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसे भी देखिए।

यह निष्कर्ष, कि संघर्ष एक ओर आवेग और इच्छा तथा दूसरी ओर एक तर्क-पूर्ण उद्देश्य के मध्य नहीं बल्कि विचार में विद्यमान दो इच्छाओं और दो उद्देश्यों के बीच होता है, हमारे क्रियात्मक अनुभव से भी मेल खाता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्ति, जिन्हें एकपक्षीय नैतिक प्रशिक्षण मिला होता है, कोई अपूर्ण और बुरा विचार मन में पैदा होने के कारण लज्जा और अनुताप अनुभव करते हैं, भले ही उन्होंने उस विचार पर अमल न किया हो और तत्काल ही उसे मन से निकाल दिया हो। क्षणिक आवेग सभी मार्गों से हमारे मनों में प्रवेश करते हैं। जब तक किसी व्यक्ति ने पहले से ऐसी आदतें अपने भीतर पैदा न कर ली हों, जो उन आवेगों को उत्तेजित करती और शक्तिशाली बनाती हैं, तब तक केवल इसलिए कि किसी उद्देश्य के विचार ने 'उसके दिमाग में झलक दिखाई है" उसके लिए अपने-आपको नैतिक दृष्टि से दोषी ठहराने का कोई कारण नहीं है। उसकी नैतिक स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि विचार पैदा होने के बाद वह उसका किस प्रकार उपयोग करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नैतिक निर्णय वास्तव में हमें इस बात का करना है कि विचार और सप्रयोजन इच्छा में मेल और ऐक्य कैसा है। लोगों में यह प्रवृत्ति भी होती है कि कुत्सित इच्छाओं की खूब खुलकर काल्पनिक तृप्ति और सन्तुष्टि की जाए क्योंकि वे यह समझते हैं कि जब तक इच्छाएं केवल कल्पनालोक की सीमा के भीतर रहें और प्रत्यक्ष आचरण में न आएँ तब तक उनसे कोई नुकसान नहीं होता। किन्तु यह विचार इस तथ्य की उपेक्षा कर देता है कि इच्छाओं की आनन्ददायी पूर्ति के **विचारों** के आगे आत्मसमर्पण कर देना उस इच्छा की तीव्रता को बढ़ाता है और उससे भविष्य में किसी समय उसे प्रत्यक्ष कार्य में परिणत करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है। नैतिक-सिद्धान्त की दृष्टि से इच्छा और विचार को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि विचार और इच्छा के संयोग या गठजोड़ से ही वास्तव में कोई कार्य स्वैच्छिक होता है।

जब हम इच्छा के निरोध और उसके प्रति आत्मसमर्पण का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तब भी हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। इच्छाओं के निरोध और अन्तर्बाधाएँ अनेक किस्म की होती हैं और उनके नैतिक मूल्य और परिणाम भी बहुत भिन्न-भिन्न किस्म के होते हैं। एक प्रकार का निरोध वह होता है जिसमें तृष्णा और आवेग को विचार और परिवेक्षण के क्षेत्र से ही जान-बूझकर निकाल दिया जाता है। एक और प्रकार का दमन भी होता है जिसमें इच्छा को सिर्फ गुप्त मार्गों की ओर मोड़ दिया जाता है। इस किस्म के दमन में उसकी शक्ति कमज़ोर नहीं होती, सिर्फ उसे एक स्थान से हटाकर दूसरी जगह स्थाना-न्तरित कर दिया जाता है, जिससे वह (इच्छा) अपनी शक्ति का प्रयोग परोक्ष रूप में करती है। दूसरी ओर समस्त चिन्तन में ही, स्वभावतः कुछ निरोधात्मक

अभाव रहता है। चिन्तन इच्छा के कार्य को विलम्बित कर देता है और इसी बीच कुछ नये विचारों को उद्‌बुद्ध करता है और उनसे प्रारम्भ में मनुष्य में जो कार्य करने की प्रवृत्ति पैदा हुई होती है उसका स्वरूप बदल जाता है। यह निरोधात्मक क्रिया इच्छा को आवृत या अवरुद्ध नहीं करती, बल्कि उसे एक ऐसे रूप में बदल देती है जो अधिक बुद्धियुक्त होता है, क्योंकि वह सम्बन्धों और प्रभावों को अधिक दृष्टि में रखता है।

व्यावहारिक अनुभव में उक्त निष्कर्ष की तीसरी पुष्टि त्याग और अतिभोग के तुलनात्मक विवेचन से होती है। इस मामले में भी हम यह अनुभव करते हैं कि समस्या का वास्तविक समाधान विचार और इच्छा को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने के बजाय उनका परस्पर गठजोड़ करके ही हो सकता है। कभी-कभी स्वयं त्याग और बलिदान को ही उद्देश्य बना दिया जाता है। प्रकारान्तर से यह आवेग को एक बुराई मान लेने के समान ही है। इस प्रकार के बलिदान की परिणति जीवन को पंगु बनाने, सत्ता को कम करने और कार्य के लिए अवसरों के क्षेत्र को संकुचित करने के रूप में होती है। किन्तु एक और प्रकार का त्याग भी होता है और वह उस समय होता है जब हमारे सामने कोई ऐसा उद्देश्य आ जाता है जिसे हम अधिक बेहतर समझते हैं और इच्छा को हम विचार द्वारा प्रकट किये गए इस बेहतर उद्देश्य के साथ जोड़ देते हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता; हमारी शक्तियाँ इतनी सीमित हैं और हमारे चारों ओर की परिस्थितियाँ इतनी कठोर हैं कि ऐसी स्थिति आ ही नहीं सकती। परिणामत: हमें कुछ ऐसी वस्तुओं का, जिन्हें इच्छा हमारे सामने प्रस्तुत करती है, त्याग और बलिदान कर देना चाहिए। किसी भी तरह के बलिदान की अनिच्छा सिर्फ़ उस छोटे बच्चे की तरह चरित्र की अपरिपक्वता को ही सूचित करती है जो यह समझता है कि वह अपने हृदय की सभी इच्छाएँ पूरी कर सकता है अर्थात् जो कुछ वह चाहता है, उसे प्राप्त कर सकता है। विमर्श और अनुचिन्तन का सामान्य कार्य इच्छा के उद्देश्यों को उनके सापेक्ष मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करना है ताकि जब हम एक श्रेयस् का परित्याग करते हैं तब हमारे वैसा करने का कारण एक ऐसे उद्देश्य को देख लेना होता है, जो अधिक बेहतर है और जो अधिक व्यापक और अधिक स्थायी इच्छा को जन्म देता है। इस प्रकार हम एक ऐसे त्याग से भी बच जाते हैं जिसे गोएते धर्मनिन्दात्मक कहता है, और उससे भी जो उसे ही अपने-आपमें एक श्रेयस् बनाता है। कारण, जैसाकि गोएते ने कहा है त्याग में विचार-हीन होने की प्रवृत्ति होती है। उसका कहना है, "हम हर क्षण हल्केपन और निश्चिन्तता से कुछ-न-कुछ वस्तुओं का त्याग करते हैं, बशर्ते कि अगले ही क्षण हम कोई नई वस्तु प्राप्त कर सकें। हम सिर्फ़ किसी एक आवेश को अन्य कामों, रुझानों, विनोद के कार्यों और शौकों के स्थान पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। हम

एक के बाद एक उन सबको आज़माते हैं और अन्त में चिल्लाकर कहते हैं कि 'सब व्यर्थ है'।" इस प्रकार हम एकबार फिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी इच्छा का दमन करने अथवा जिस रूप में वह पहले-पहल हमारे सामने आती है उस रूप में उसके सम्मुख आत्मसमर्पण करने का दूसरा विकल्प केवल यही हो सकता है कि हम विचारपूर्वक इच्छा को अपनाएं।

इच्छा की प्रेरक और प्रणोदक शक्ति और विचार के निरन्तरनिर्माण क्षेत्र के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ लेने से हम यह जान सकेंगे कि **इच्छाशक्ति** का, विशेषकर 'दृढ़ इच्छाशक्ति' का, क्या अर्थ है। कभी-कभी निरा दुराग्रह, अर्थात् चिन्तन के द्वारा नये विचार प्रस्तुत किये जाने पर भी अपने प्रयोजन से टस-से-मस न होना, ही ग़लती से 'दृढ़ इच्छाशक्ति' समझ लिया जाता है। कभी-कभी दौरे की तरह उठनेवाली बाह्य शक्ति का तीव्र किन्तु अल्पकालावस्थायी प्रदर्शन भी भूल से 'दृढ़ इच्छाशक्ति' मान लिया जाता है, भले ही वह जबर्दस्त प्रदर्शन बिना बात के हो-हल्ला मचाना ही हो। वास्तव में 'इच्छा की शक्ति' (या उसे चरित्र की शक्ति कहना बेहतर होगा) का अर्थ आवेग और विचार का स्थायी एकीकरण है, जिसमें कि वेग प्रेरणा प्रदान करता है और विचार नैरन्तर्य, धैर्य और अध्यवसाय उपलब्ध कराता है और उनके सम्मिलन से आचरण का एक एकीकृत मार्ग निर्मित होता है। किन्तु यह एकीकृत मार्ग और दुराग्रह एक ही चीज नहीं हैं, क्योंकि यह इच्छा की अथवा चरित्र की शक्ति एक ही कार्य की बार-बार आवृत्ति पर बल देने के बजाय परिस्थितियों के परिवर्तनों को देखती है और नए समंजन करने में लचकीला रुख अपनाती है। वह **चिन्तन** और **विचार** पर आग्रह करती है, भले ही व्यक्ति की दृष्टि में जो विशेष उद्देश्य हैं वे बदल जाएँ। किन्तु दूसरी ओर दुराग्रही व्यक्ति एक ही काम की बार-बार आवृत्ति पर जोर देता है, भले ही विचार और चिन्तन कोई नया अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग सुझाएँ। ऊपर हमने जो सन्दर्भ उद्धृत किया है उसमें जेम्स ने कहा है कि जब कोई प्रबल आवेश हम पर हावी होता है तब किसी एक संकल्प पर जमे रहने में होने वाली कठिनाई **मानसिक** होती है। मनुष्य प्रबल आवेश की अवस्था में किसी एक विचार को क़ायम रखने में, ध्यान को सजग और सतत रखने में कठिनाई अनुभव करता है। किन्तु साथ ही, **निरा** चिन्तन भी मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त नहीं कर सकता। चिन्तन मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त तभी कर सकता है जबकि वह एक सप्राण आवेग और इच्छा का रूप धारण कर ले।

स्वैच्छिक कार्य में इच्छा और विचार के विचित्र मिश्रण से यह निष्कर्ष निकलता है कि हर नैतिक सिद्धान्त के, जो आचरण के **उद्देश्य** को निर्धारित करने का प्रयत्न करता है, दो पहलू होते हैं। **इच्छा** के साथ अपने सम्बन्ध के लिए उसे श्रेयस् के सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। श्रेयस् वह है जो आवश्यकता

की, लालसा की तृप्ति करे, जो मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करनेवाली आवश्यकता को पूरा करे। और दूसरी ओर **विचार** के साथ सम्बन्ध के कारण, या प्राप्य उद्देश्य के **विचार** के रूप में, ऐसा नैतिक सिद्धान्त उन लोगों पर जिन्हें कोई कार्य करना है, यह कर्त्तव्य थोपता है कि वे तार्किक अन्तर्दृष्टि या नैतिक **समझदारी** से काम लें। कारण, जैसाकि हमने देखा है, अनुभव हमें यह बताता है कि हर तृष्णा और लालसा की पूर्ति शुभ ही होगी, यह आवश्मक नहीं है। बहुत-से उद्देश्य उस समय तो हमें अच्छे **लगते हैं** जबकि हम किसी प्रबल आवेश के वशीभूत होते हैं, किन्तु वास्तविक अनुभव में और ठण्डे दिमाग़ से सोचने पर वे बुरे सिद्ध होते हैं। इस प्रकार नैतिकता के सिद्धान्त का कार्य एक ऐसे सिद्धान्त की रचना करना है जिसमें श्रेयस् ही उद्देश्य अर्थात् इच्छा का लक्ष्य हो। साथ ही उसे प्रतीयमान के बजाय सच्चे श्रेयस् का भी सिद्धान्त निर्धारित करना है। व्यवहारतः उसके इस दूसरे काम का अर्थ ऐसे उद्देश्यों को खोजना है जिनसे निष्पक्ष और दूरदर्शितापूर्ण विचार की माँगें पूरी हो सकें और साथ ही इच्छा के तात्कालिक प्रणोदनों की भी सन्तुष्टि हो सके।

उद्देश्यों के इस दुहरे पहलू से हमें नैतिकता के विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए एक कुंजी और उनके मूल्य का निर्णय करने के लिए एक कसौटी मिल जाती है। हो सकता है कि एक सिद्धान्त ऊपरी तौर पर ऐसा लगे कि वह श्रेयस् की एक ऐसी कल्पना प्रस्तुत करता है, जो इच्छा के साथ उसका सम्बन्ध सन्तोषजनक ढंग से स्थापित करती है, परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ न बता सके जिनके बिना उद्देश्य के लिए व्यक्ति के आचरण का बुद्धिमत्तापूर्वक निर्देशन सम्भव नहीं है। यह बात पहले सिद्धान्त के बारे में विशेष रूप से सही है, जिस पर कि अब हम विचार प्रारम्भ करेंगे।

### 3. सुख : श्रेयस् भी और उद्देश्य भी

अनेक व्यक्तियों को यह बात न केवल तर्कसंगत बल्कि व्यावहारिक रूप में स्वतःसिद्ध भी लगी है कि किसी भी इच्छा या प्रयत्न का उद्देश्य तभी अच्छा होता है जबकि उससे अनुभविता को सुख प्राप्त हो। हम मानव समाज को बहु-संख्यक और बहुविध वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील देखते हैं। किन्तु क्यों? वह कौन-सा सर्वमान्य गुण है जो इन सब विभिन्न वस्तुओं को वांछनीय बनाता है? यहाँ हम जिस सिद्धान्त पर विचार कर रहे हैं (जिसे हेडोनिज्म या सुखवाद कहा जाता है और जो ग्रीक भाषा के 'हेडोन' अर्थात् सुख शब्द से बना है) उसके अनुसार यह सर्वसामान्य गुण सुख है। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त का प्रमाण स्वयं अनुभव ही है। कोई भी व्यक्ति किसी भी वस्तु को पाने का प्रयत्न क्यों करेगा, और उसे करना भी क्यों चाहिए, जब तक कि उसे यह

विश्वास न हो कि वह उससे सुखोपभोग कर सकेगा ? कोई भी व्यक्ति किसी भी वस्तु को बुरा समझकर उससे बचने का क्यों प्रयत्न करेगा जब तक कि उसे यह विश्वास न हो कि उसका अनुभव सुखप्रद नहीं होगा ? इस सम्बन्ध में बेन और स्टुअर्ट मिल के शब्द बहुत विशिष्ट हैं। बेन ने कहा है —"यह सिद्ध करने के लिए कि आनन्द ही समस्त मानवीय कर्मों का उचित उद्देश्य है, कोई प्रमाण नहीं हो सकता…यह तो एक अन्तिम और स्वतःसिद्ध मान्यता है और वह मानव-समाज के व्यक्तिगत निर्णयों से ही परखी जा सकती है।" स्टुअर्ट मिल का कहना है: "यह सिद्ध करने के लिए कि कोई वस्तु दृश्य है (देखी जा सकती है), इसके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि लोग उसे देखते हैं। इसी तरह यह सिद्ध करने के लिए भी कि कोई वस्तु वांछनीय है, केवल यही प्रमाण हो सकता है कि लोग वास्तव में ही उसे चाहते हैं।"

यहाँ अधिक विस्तार में गए बिना इस सम्बन्ध में उठनेवाले वाद-विवाद के बारे में हम इतना कह सकते हैं कि इस प्रकार के वक्तव्यों में एक घातक संदिग्धार्थकता होती है। आनन्द श्रेयस् हो सकता है किन्तु यह सम्भव है कि आनन्द और सुख एक चीज़ न हों। दूसरी बात यह कि शब्द के अन्त में हम जो 'य' अथवा 'अनीयर' प्रत्यय (अंग्रेजी में 'एबल') लगाते हैं उसका विभिन्न शब्दों में विभिन्न अर्थ होता है। जब वह 'दृश्य' (विज़िबल) शब्द में लगता है तब उसका अर्थ होता है **'जो देखा जा सके'** (केपेबल ऑफ बीइंग सीन)। किन्तु अन्य शब्दों में उसका अर्थ होता है जो उचित हो, जैसे उपभोग्य (एंजॉयेबल) और प्रेय (लवेबल)। इसी प्रकार वांछनीय (डिज़ायरेबल) शब्द का अर्थ वह वस्तु नहीं जिसकी वांछा (इच्छा या कामना) की जा सके (अनुभव यह बताता है कि प्रायः हरेक वस्तु ही किसी-न-किसी समय किसी-न-किसी व्यक्ति द्वारा चाही जाती है), बल्कि वह वस्तु है जो निष्पक्ष व्यक्तियों की दृष्टि में ऐसी है जो **चाही जानी चाहिए**। यह बात निस्सन्देह सत्य है कि किसी भी ऐसी वस्तु को जो वास्तव में चाही नहीं जाती, यानी चाही नहीं जा सकती, वांछा या चाह का उद्देश्य बनाना मूर्खतापूर्ण होगा। किन्तु साथ ही यह मानना भी उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा कि हम केवल ऐसी वस्तु की परीक्षा करके ही, जिसे लोग चाह सकते हैं, यह निर्धारण कर सकते हैं कि कौन-सी वस्तु **चाही जाने योग्य** है। वास्तव में यह निर्धारण हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि वस्तुओं के **औचित्य** की आलोचनात्मक परीक्षा न कर ली जाए। इस प्रकार **उपभुक्त** और **उपभोग्य** में एक स्पष्ट अन्तर है।

इस प्रकार हमें सुखवाद के सिद्धान्त की परीक्षा कामना के सिद्धान्त या प्राप्य उद्देश्यों के चयन में व्यावहारिक बुद्धि या दूरदर्शिता के सिद्धान्त के रूप में करनी है। **उद्देश्य** के विचार का अर्थ ही एक ऐसी वस्तु है, जो न्यूनाधिक दूरवर्ती हो। उसका अर्थ है आगे देखने की, निर्णय करने की आवश्यकता। वह इच्छा को यह

परामर्श देता है : **अंतिम परिणाम की ओर देखो**। यह विचार करो कि जो इच्छा तुम इस समय अनुभव कर रहे हो, उस पर अमल करने का परिणाम तुम्हारे लिए क्या होगा; उसकी क़ीमत को आँको। यह हिसाब लगाओ कि एक नियत समय बाद उसके परिणाम क्या होंगे। एक के बाद एक आनेवाले परिणामों की समूची शृंखला का व्यापक निरीक्षण और दूरदर्शितापूर्ण आकलन सन्तुष्टि या श्रेयस् की प्राप्ति की पहली शर्त है। समस्त मूर्खता और बेवकूफी का कारण दूरवर्ती वस्तु को, अन्ततोगत्वा प्राप्त होने वाले परिणाम को आँकने में असफलता है और इस असफलता का कारण यह होता है कि कोई वर्तमान तीव्र इच्छा मनुष्य के मन को आच्छन्न और उसकी विचार-शक्ति को अन्धा कर देती है।

हमारी पहली आलोचना यह है कि यदि हम सुख या प्रेय को ही उद्देश्य मान लें तो ठण्डे दिमाग़ से परिणामों का वैसा शान्त और दूरदर्शितापूर्ण निर्णय या विवेक सम्भव ही नहीं है, जैसाकि इस सिद्धान्त में आवश्यक बताया गया है; दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह अपने-आपको स्वयं उदासीन कर देता है। कारण, सुख और दुःख के मार्ग में आनेवाले परिणाम हीं तो उन दूरवर्ती परिणामों के मार्ग में आनेवाली वस्तुएँ हैं जिनका पहले से अनुमान लगा सकना अत्यन्त कठिन है। दूरदर्शिता यह है कि अन्तिम उद्देश्य पर विचार किया जाए, उसके मूल्य को आँका जाए और तब इच्छा के द्वारा सुझाये गए मार्ग को अपनाया जाए। किन्तु सुख किसी भी काम की क्रिया के साथ इतने बाह्य और सांयोगिक रूप से जुड़े हुए हैं कि उनको पहले से देखने का प्रयत्न ही किसी कार्य के लिए पथप्रदर्शन प्राप्त करने का सम्भवतः सबसे मूर्खतापूर्ण तरीका है। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति के मन में अपने एक बीमार मित्र को देखने की इच्छा है और इसके लिए वह सुख और दुःख का हिसाब लगाकर श्रेयस् का निर्धारण करने का प्रयत्न करता है। अब फ़र्ज कीजिए कि वह इस तरह की बातें सोचता है कि उसके कमज़ोर दिल से उस मित्र का दुःख देखा नहीं जाएगा; मित्र से बातचीत में कहीं कोई अप्रिय मतभेद पैदा न हो जाए या कहीं कोई ऐसा आदमी इस मुलाक़ात के वक्त न आ टपके जो दिल को उबा दे। इस प्रकार संक्षेप में सुख-दुःख के ऐसे अनेक सांयोगिक पहलू उसके सामने आ सकते हैं जो कार्य और अकार्य के बुद्धि-सत्तापूर्ण निर्णय में सर्वथा अप्रासंगिक और असंगत होंगे। किसी भी कार्य के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख को कितनी ही बाह्य परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं और इन परिस्थितियों के ऐसे परिणाम होते हैं जो उस कार्य के आन्तरिक और पहले से कल्पनीय परिणामों के लिए सर्वथा बाह्य होते हैं।

किन्तु हम अपने तर्क की पद्धति को यहाँ थोड़ा-बहुत बदल सकते हैं और सिद्धान्त के क्षेत्र को केवल उन सुखों और दुःखों तक सीमित कर सकते हैं, जो सम्बद्ध कार्य की प्रकृति के साथ आन्तरिकता से जुड़े हुए हैं और इसलिए जिनकी

गणना की जा सकती है। हम सभी ऐसे काम करके, जो हमारी प्रवृत्तियों के अनुकूल हों, कुछ सुख प्राप्त कर सकते हैं; ऐसे काम हमारी कल्पना के अनुसार, हमारे अनुकूल होते हैं; उनका हमारी प्रवृत्तियों के साथ मेल बैठ जाता है। टैनिस का चतुर खिलाड़ी टैनिस खेलना चाहता है; एक चित्रकार चित्र बनाना पसन्द करता है, एक वैज्ञानिक अनुसन्धान करना और एक दार्शनिक विवेचन करना चाहता है; एक परोपकारी व्यक्ति दयालुता के काम करने की और एक बहादुर आदमी वीरता और वफ़ादारी के काम करने की इच्छा करता है, आदि। इस प्रकार की अवस्थाओं में, यदि विशेष ढंग का चरित्र और विशिष्ट ढंग की योग्यता की प्रवृत्ति हो तो उनसे एक ऐसा आंतरिक आधार मिल जाता है जिससे सम्बद्ध कार्य के परिणामभूत सुख-दुःख की पहले से कल्पना की जा सकती है। अतः हम अपने इस सिद्धान्त को केवल ऐसे परिणामों तक ही सीमित कर सकते हैं और विशुद्ध सांयोगिक या आकस्मिक परिणामों को छोड़ देंगे।

किन्तु सिद्धान्त को इस ढंग से संशोधित करके हमने मनुष्य के मौजूदा चरित्र को ही कसौटी बना दिया है। एक कुटिल और माया-ममताहीन व्यक्ति अपनी विशुद्ध धूर्तता से भी सुख पा सकता है। जब वह यह सोचेगा कि अमुक काम से किसी उदार और सीधे-सादे व्यक्ति को दुःख पहुँचेगा तो वह विचार उसे सुखप्रद लगेगा। परिणामतः (इस सिद्धान्त के अनुसार) इस प्रकार का विचार करना एक अच्छा काम होगा। यही बात क्रूर, विषयी और ईर्ष्यालु व्यक्ति के बारे में भी सही होगी। उनमें से हरेक अपने चरित्र के अनुसार ही भावी सुख या दुःख की कल्पना करेगा। ऐसे दो आदमियों की कल्पना कीजिए जिनके मन में क्षण-भर के लिए किसी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने बुरा बर्ताव किया हो, कठोर प्रतिशोध का भाव पैदा हुआ हो। एक क्षण के लिए दोनों ही व्यक्ति उस व्यक्ति की प्रताड़ित और कष्टग्रस्त अवस्था की कल्पना करके थोड़ी देर के लिए सुखोपभोग करेंगे। किन्तु उन दोनों में से जो दयालु प्रकृति का होगा वह जल्दी ही यह सोचकर दुःखी होगा कि दूसरे व्यक्ति को उस तरह के व्यवहार से दुःख होगा। दूसरी ओर क्रूर और प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त व्यक्ति जितना ही अपने शत्रु के कष्ट पर विचार करेगा उतना ही खुशी से उसका चेहरा दमकता जाएगा। यदि सुख ही अच्छाई या श्रेयस् का चिह्न है तो यह काम उसके लिए अवश्य ही अच्छा होगा।

इस प्रकार इस सिद्धान्त में दुहरी ग़लत धारणा है। अनजाने में इसने उन सुखों की कसौटी में ग़लती कर दी है, जिन्हें एक ऐसा व्यक्ति, जो पहले से ही अच्छा है, उपभोग करेगा, अर्थात् ऐसे सुख जो सामान्य समझे जाते हैं। यदि और सब बातें समान हों तो सुख निश्चय ही उपभोग्य श्रेयस् हैं, वे त्याज्य अमंगल नहीं हैं। किन्तु 'यदि और सब बातें समान हों' ये शब्द बहुत व्यापक और विस्तृत हैं। मनुष्य आम तौर पर जब सुख या आनन्द की बात कहता है तो उससे उसका

अभिप्राय विषयी, बेईमान, कमीने या कंजूस व्यक्ति के आनन्द और सुख से नहीं होता, बल्कि उसका अभिप्राय सौन्दर्य, मैत्री, अच्छे साथीपन और ज्ञान आदि के आनन्द और सुख से होता है। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिन चरित्रों की हम नैतिक दृष्टि से निन्दा करते हैं, उनसे युक्त व्यक्ति भी **अपने** ख़ास ढंग के आचरण से सुख और आनन्द का उपभोग करते हैं। हम यह सोच सकते हैं, और वह अनुचित भी नहीं होगा, कि उन्हें ऐसा सुखोपभोग करना **नहीं चाहिए**, किन्तु वास्तविकता यह है कि वे यह सुखोपभोग करते हैं। यह ठीक है कि कुछ आनन्द इस प्रकार के हैं जिनका उपभोग अच्छे आदमी करते हैं और बुरे नहीं, किन्तु इससे उल्टी बात भी ठीक है और यह तथ्य इस सिद्धान्त के लिए बहुत घातक है कि सुख और आनन्द ही श्रेयस् है और श्रेयस्कर होने के कारण ही कोई वस्तु किसी काम का उद्देश्य हो सकती है।

दूसरी ग़लत धारणा है, किसी उद्देश्य के विचार से तत्काल जो अव्यवहित आनन्द प्राप्त होता है उसे और पहले से कल्पना किए गए भावी सुख को भ्रान्ति से एक ही वस्तु समझ लेना। जब कभी किसी **भावी** लक्ष्य को एक उद्देश्य समझा जाता है तो उसका विचार एक **वर्तमान** सुख या दुःख पैदा करता है। और यह **वर्तमान** सुख या दुःख हमारे ध्यान पर उस विचार के लक्ष्य की पकड़ को मजबूत अथवा कमज़ोर करता है। जिस वस्तु या लक्ष्य का विचार किया गया है उसकी **प्रेरक** शक्ति को वह बढ़ाती या कम करती है। किसी इच्छा की कल्पना **इस समय** मेरे मन में जो सुख पैदा करती है कि उस पर विचार करने से वह इच्छा इतनी भड़क सकती है कि काबू से बाहर हो जाए। किन्तु उस वस्तु या लक्ष्य की गतिशील प्रेरक शक्ति में वृद्धि का विवेक से या परिणामों की अच्छाई की पूर्वकल्पना से जो उस वस्तु को अपना उद्देश्य मान लेने से पैदा **होगी**, कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में, कुछ अवस्थाओं में तो वह भावी परिणामों के सन्तुलित विवेक और निर्णय की दुश्मन होती है। अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि जब एक व्यक्ति यह निर्णय कर लेता है कि अमुक उद्देश्य अच्छा और प्राप्य है तो उसके लिए उसके सुखप्रद सम्बन्धों को बढ़ावा देना उसकी दृष्टि में बुद्धिमानी का काम है। इस प्रकार उसका संकल्प दृढ़ हो जाता है और विचलित नहीं होता। एक विद्यार्थी, जिसने अपनी सन्ध्या अध्ययन में बिताने का निश्चय किया है, यदि निरन्तर अपने मन को उन सुखों और आनन्दों की बात सोचने दे जिन्हें वह कोई अन्य काम करके प्राप्त कर सकता था, तो वह अनुभव करेगा कि उसका वैसा करने का निश्चय कमज़ोर पड़ गया है।

हैज़लिट का कहना है कि "सुख वह है जो अपने-आपमें सुख हो। श्रेयस् वह है जो विचार करने पर अपने-आपको सुख के रूप में अनुमोदित कर दे या जिसका **विचार** सन्तोष प्रदान करनेवाला हो। इसलिए नैतिक दृष्टि से देखा जाए तो

हरेक सुख समान रूप से अच्छा नहीं है, क्योंकि हरेक सुख विचार करने पर समान रूप से सुख प्रतीत नहीं होता ।"

यह सच है कि ऐसी कोई भी वस्तु हमारे लिए अच्छी नहीं है जिसमें सुखोपभोग का तत्त्व न हो और न कोई ऐसी वस्तु बुरी है जिसमें अप्रियतत्व या विकर्षण का तत्त्व न हो। आकर्षण या विकर्षण के तत्त्व से रहित काम या लक्ष्य-मात्र एक उदासीन वस्तु है और उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि हर अच्छी वस्तु में उपभोग का तत्त्व अवश्य होता है तब उसका अर्थ यह नहीं है कि हरेक सुख अच्छा या श्रेयस्कर ही है। हैज़लिट का उपर्युक्त उद्धरण इस भेद को स्पष्ट सूचित करता है। यदि हम विवेकपूर्वक निर्णय करें तो अक्सर देखेंगे कि हम सुखोपभोग को **अनुमोदित** नहीं करते। इसका कारण यह नहीं है कि सुख अपने आप में कोई बुरी या अमंगल वस्तु है, बल्कि इसलिए कि हमारा विवेकपूर्ण निर्णय सुखप्रद कार्य और लक्ष्य के ऐसे सम्बन्धों को रोशनी में लाता है जिनसे हम नैतिक दृष्टि से परे भागते हैं या शर्मिन्दगी महसूस करते हैं। एक कार्य हमें सुखप्रद मालूम होता है, इसलिए वह हमें आकर्षक लगता है। किन्तु यदि हम ज़रा रुककर उस पर ग़ौर करें तो यह हो सकता है कि हमें ऐसा लगे कि वह सुख हमारे भीतर विद्यमान किसी ऐसी वस्तु के कारण है, जिसे हम बुरी समझते हैं, जैसेकि कमीनापन या कोई अन्य कुत्सित वृत्ति। मान लीजिए, हम विवेकपूर्वक निर्णय करने पर किसी सुखोपभोग को अनुमोदित कर देते हैं; किन्तु तब उसका कारण यह नहीं होता कि वह अपने-आपमें अच्छा है, बल्कि उसका कारण यह होता है कि परीक्षा करने पर उस सुख के साथ सम्बद्ध परिस्थितियों और परिणामों को स्वीकार करने के लिए हम अपने-आपको उद्यत पाते हैं। कोई भी वस्तु हमें सुख इसलिए देती है वह हमारी अपनी रचना के भीतर विद्यमान किसी वस्तु के अनुकूल होती है। जब हम विचार-विमर्श करते हैं तब हमें इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इस प्रकार किसी सुखोपभोग के नैतिक मूल्य का निर्णय करते हुए हम वास्तव में अपने चरित्र और प्रवृत्ति पर ही निर्णय करते हैं। यदि आप यह जानते हों कि कोई मनुष्य किन वस्तुओं को आनन्दप्रद या अप्रिय अनुभव करता है तो आपको उसकी प्रकृति का अध्ययन करने के लिए एक निश्चित कुंजी मिल जाएगी—और यह सिद्धान्त दूसरों की भाँति हम पर भी लागू होता है।

इस तरह उद्देश्यों की अच्छाई या बुराई की दिशा से मुख्य गुण वह दूरदर्शिता या अन्तर्दृष्टि है जिसका उपयोग व्यक्ति निष्पक्ष और अविचलित दर्शक के रूप में करता है; अर्थात किसी प्रबल इच्छा की प्रेरणा के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि शान्त विचार-विमर्श के क्षणों में करता है। उस दशा में वह किसी कामना और उसकी पूर्ति को सम्पूर्ण आचरण और चरित्र के अंगों के रूप में देखता है। इन दोनों अभिवृत्तियों में उतना ही अन्तर हो सकता है जितना कि किसी तीव्र

इच्छा के वशीभूत होकर अपराधपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति और उसके कार्य पर निर्णय देनेवाले न्यायाधीश में होता है। सुखोपभोग और श्रेयस् के बीच विद्यमान सम्बन्ध जिस महत्त्वपूर्ण सत्य को हमारे सामने उपस्थित करता है वह यह है कि हमें न्यायाधीश के कार्य को—विमर्श और अनुचिन्तन को—हमारी अपनी इच्छाओं की रचना में अनुस्यूत कर देना है और इस प्रकार उन्हीं उद्देश्यों में सुख को अनुभव करना सीखना है जिन्हें कि विचार-विमर्श अनुमोदित कर देता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सुखोपभोग की अलग-अलग किस्मों के आन्तरिक गुणों में अन्तर होता है; अर्थात् जो सुख विचार-विमर्श द्वारा अनुमोदित हो जाता है वह उससे अनुमोदित न होनेवाले सुख से भिन्न है। यद्यपि हेडोनिस्टों (सुखवादियों) का कहना है कि सभी सुख एक जैसे हैं, अन्तर सिर्फ़ उनकी तीव्रता और कालावधि में है, तथापि जान स्टुअर्ट मिल का कहना है कि उनकी किस्म में भी अन्तर होता है। उनका कहना है—"मानवों की मनःशक्तियाँ पशुओं की क्षुधावृत्तियों से अधिक उन्नत होती हैं और एक बार जब मानवों को इस बात की चेतना हो जाती है तब वे किसी ऐसी वस्तु को सुख या आनन्द नहीं मानते जिससे उन मनःशक्तियों की सन्तुष्टि न हो।"

> "कोई भी मानव पाशविक आनन्द की पूर्ण प्राप्ति के लिए किसी निम्न पशु योनि में जाना पसन्द नहीं करेगा। कोई भी बुद्धिमान मानव मूर्ख बनने को, कोई भी शिक्षित व्यक्ति अज्ञानी बनने को और कोई भी अनुभूतिशील और अन्तर्भावना वाला व्यक्ति स्वार्थी और कमीना बनने को राज़ी नहीं होगा, भले ही उसे यह समझाने की कितनी ही कोशिश की जाए कि मूर्ख, बुद्धू और दुष्ट व्यक्ति अपने भाग्य से उनकी अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट रहते हैं।...यह बात निर्विवाद है कि जिस प्राणी की उपभोग की सामर्थ्य कम है उसके लिए उसकी पूर्ति की सम्भावना सबसे अधिक है और जिसमें यह सामर्थ्य बहुत अधिक है वह हमेशा यह अनुभव करेगा कि संसार में जिस सुख या आनन्द की वह खोज करता है, वही अपूर्ण है।...एक सन्तुष्ट सुअर होने के बजाय एक असन्तुष्ट मानव होना कहीं बेहतर है। और यदि मूर्ख अथवा सुअर की राय इससे भिन्न हो तो उसका कारण यह है कि वह प्रश्न के अपने ही पहलू को जानता है। जबकि दूसरा पक्ष (मानव) दोनों पक्षों को तुलनात्मक दृष्टि से जानता है।"

नैतिक सामान्य बुद्धि इस प्रकार के कथन को तुरन्त स्वीकार कर लेगी, किन्तु फिर भी उसका अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। हम ऐसे व्यक्ति भी देखते हैं जिन्होंने 'उच्च' और 'निम्न' दोनों कोटियों के सुखों को 'जाना' है। किन्तु फिर भी वे निम्न कोटि के सुखों को ही पसन्द करते हैं; हम यह कह सकते हैं कि वे सुअर बनना पसन्द करते हैं। बहुधा सुअर बनना सुकरात की भाँति विवेकपूर्वक

निर्णय और काम करने की अपेक्षा अधिक आसान होता है - और यह स्मरणीय है कि सुकरात को अपनी 'बुद्धि' और विवेक के उपयोग के कारण ही मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा था। मिल के कथन को स्वीकरणीय बनाने के लिए हमें **अवबोध** को 'ज्ञान' के अर्थ का अंग बना देना चाहिए। यदि हर सुखोपभोग पर अलग-अलग विचार किया जाए तो एक सुखोपभोग दूसरे से ऊँचा या नीचा नहीं होगा। एक चित्र या एक उपदेशात्मक पुस्तक के रसास्वादन में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो किसी भोजन के रसास्वादन से अपने आन्तरिक रूप में उच्चतर हो। अर्थात् यदि हम हर इच्छा की सन्तुष्टि को जीवन में उस वस्तु के अन्य सम्बन्धों और प्रभावों से बिलकुल अलग करके देखें तो कोई एक सुखोपभोग दूसरे सुखोपभोग से ऊँचा या नीचा नहीं होगा। कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि भूख की सन्तुष्टि को हम अन्य कामनाओं की सन्तुष्टि से प्राथमिकता देते हैं; उस अवस्था में अस्थायी तौर पर उस समय के लिए वह सुखोपभोग 'ऊँचा' हो जाता है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मिल के उक्त कथन में सत्य यह नहीं है कि एक मनःशक्ति अपने-आपमें दूसरी मनःशक्ति से ऊँची है, बल्कि सत्य यह है कि ऐसी सन्तुष्टि या तृप्ति, जो एक व्यापक अनुभव के आधार पर सोचने पर व्यक्ति की इच्छाओं की समूची प्रणाली को एक समन्वित एकता प्रदान करती दीख पड़ती है, उस श्रेयस् से अधिक उत्कृष्ट होती है, जो अलग से किसी एक विशिष्ट इच्छा की दृष्टि से श्रेयोरूप है। मिल के कथन का समूचा फलितार्थ यह है कि किसी उद्देश्य या लक्ष्य में समूची आत्मा की सन्तुष्टि किसी एक और पृथक् तृष्णा की सन्तुष्टि से बिलकुल भिन्न चीज़ है। यदि हम यह कहें कि पहली किस्म की सन्तुष्टि 'आनन्द' (हैप्पीनेस) और दूसरी किस्म की सन्तुष्टि 'सुख' (प्लेज़र) है तो सामान्य भाषा के व्यवहार का यह उल्लंघन नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मिल का तर्क विभिन्न सुखों में विभिन्न किस्मों या गुणों की ओर उतना संकेत नहीं करता, जितना कि यह बताता है कि समूचे व्यक्तित्व या आत्मा की स्थायी सन्तुष्टि और आत्मा के किसी एक पृथक् तत्व की अस्थायी सन्तुष्टि किस्म की दृष्टि से अलग-अलग चीज़ें हैं।

इसलिए तथ्यों के अनुसार हम सुखों और आत्मप्रसाद में, जिसे अरस्तू ने 'यूडेमोनिया' कहा था, भेद कर ही नहीं सकते, बल्कि हमें यह भेद करना भी चाहिए। सही तौर पर कहा जाए तो सुख या प्रेय-जैसी कोई वस्तु नहीं है; सुख या प्रेय का अर्थ है प्रियत्व, एक ऐसी भावात्मक संज्ञा, जो ऐसी वस्तुओं का बोध कराती है जो अप्रिय और अनुकूल लगें। और ऐसी कोई भी स्थिति प्रिय और अनुकूल होती है जो किसी व्यक्ति की उस समय की स्थिति के, चाहे वह कैसी भी हो, अनुकूल हो।

जो वस्तु एक समय प्रिय और अनुकूल होती है, वही दूसरे समय अप्रिय और

प्रतिकूल होती है। उदाहरण के लिए स्वस्थ अवस्था में जो वस्तु प्रिय लगती है वही थकावट और बीमारी के समय अप्रिय लगती है। पेट भरा होने पर जो वस्तु बुरी और अप्रिय लगती है, वही भूख और उत्सुकता के समय सन्तोषदायी प्रतीत होती है। और अधिक ऊँचे पाये पर सोचें तो जो वस्तु एक उदार स्वभाव के व्यक्ति के लिए प्रिय है, वही एक कमीने और कंजूस व्यक्ति में घृणा और विरक्ति पैदा करती है। जो वस्तु बच्चे को प्रिय लगती है, वही एक वयस्क को उबा सकती है। जो वस्तुएँ विद्वान को अच्छी लगती हैं वही एक गँवार को अप्रिय लग सकती हैं। इस प्रकार प्रियत्व और अप्रियत्व उन वस्तुओं के चिह्न और लक्षण हैं जो किसी खास समय पर व्यक्ति की किसी विशिष्ट मनःस्थिति और चरित्र के अनुकूल प्रतीत होती हैं और किसी वर्तमान चरित्र के गुण के लक्षण में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो उस वस्तु को एक वांछनीय उद्देश्य होने के लायक बनाती हो, भले ही वह कितनी ही बड़ी पथप्रदर्शक या चेतावनी-रूप सिद्ध हो।

निरी अनुकूल और सन्तोषप्रद वस्तु में कुछ आकस्मिकता होती है। अनुकूल और प्रिय घटनाएँ हमारे साथ आकस्मिक रूप में ही घटती हैं। कोई व्यक्ति सड़क पर पड़ा पैसा अचानक पाकर आनन्द अनुभव कर सकता है, एक अच्छा भोजन खाकर या अचानक किसी पुराने मित्र से मिलकर आनन्द-लाभ कर सकता है। इसके विपरीत एक आदमी अचानक ठोकर खाकर गिर पड़ता है, जख्मी हो जाता है और दुःख उठाता है या बिना किसी अपने अपराध के अत्यधिक अप्रिय निराशा अनुभव करता है। इन वस्तुओं पर, जिनका जान-बूझकर किये गए काम से कोई सम्बन्ध नहीं है, नैतिक दृष्टि से अच्छाई या बुराई का आरोप करना बेहूदा होगा। किसी प्रिय मित्र को खो देने से बढ़कर कष्टदायक और कुछ नहीं हो सकता, किन्तु कोई भी व्यक्ति मित्र-हानि से पीड़ित व्यक्ति के बारे में यह नहीं सोचता कि उसके चरित्र की हानि हुई है। एक 'खुशकिस्मत' आदमी प्रिय वस्तुओं को एक असाधारण मात्रा में अनुभव करता है, किन्तु उसी के कारण वह अनुभूतिरहित, विचारशून्य और अभिमानी हो सकता है।

दूसरी ओर कल्याण एक स्थायी परिस्थिति है, क्योंकि वह किसी ऐसी वस्तु पर निर्भर नहीं है जो अस्थायी तौर पर हमारे साथ घटित होती है, बल्कि वह व्यक्ति की स्थायी प्रवृत्ति पर निर्भर है। मनुष्य खिजलाहट के मध्य भी शान्ति अनुभव कर सकता है, अप्रिय अनुभवों की एक लम्बी शृंखला के बावजूद सन्तुष्ट और सुखी अनुभव कर सकता है, बशर्ते कि उसमें आत्मा की वीरता और साम्यावस्था हो। किसी वस्तु का प्रिय लगना इस बात पर निर्भर करता है कि कोई वस्तु हमें किस प्रकार स्पर्श करती है। उसमें आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें कि आनन्दों और सुखों के प्रति आसक्ति मनुष्य को स्वार्थी या लालची बना देती है। आनन्द या सुख हमारी प्रवृत्ति या स्वभाव का विषय है,

जिसे हम परिस्थितियों का सामना करने के लिए सक्रिय रूप से अपने साथ लाते हैं, मन और हृदय के उन गुणों का विषय है जिनसे हम स्थितियों का मुकाबला और उनकी व्याख्या करते हैं। तो भी, वह इच्छा और प्रयत्न का इस अर्थ में सीधा उद्देश्य नहीं है कि वह जान-बूझकर चाहा गया और पहले से ही कल्पित किया गया उद्देश्य हो, बल्कि वह चरित्र का, जो उन वस्तुओं को पाना चाहता है जो स्थायी हों और एक व्यापक और विस्तीर्ण प्रकृति के साथ आन्तरिकता से सम्बद्ध हों, अन्त्योत्पादन और एक आवश्यक सहचारी है। जैसाकि जॉर्ज इलियट ने अपने उपन्यास 'रोमोला' में कहा है, "वह सुख या आनन्द निकृष्ट किस्म का सुख है, जो हमें अपने संकीर्ण सुखों की बहुत अधिक फ़िक्र करने से प्राप्त होता है। उच्चतम कोटि का वह सुख, जिससे आदमी महापुरुष बन सकता है, हम अपने और साथ ही शेष संसार के साथ सहानुभूति रखकर, व्यापक और उदार विचार अपनाकर ही प्राप्त कर सकते हैं। और इस प्रकार के कल्याणमय सुख के साथ इतना दुःख मिला होता है कि उस दुःख से ही, जिसे हम सबसे अधिक वरणीय समझते हैं, हमें उस सुख का पता चलता है, क्योंकि हमारी आत्माएं देख लेती हैं कि यह दुःख भी श्रेयस्कर है।"[1]

कल्याणमय आनन्द या सुख, जो सामान्य सुख या आनन्द से भिन्न वस्तु है, आत्मा की एक स्थिति है। शान्त आनन्द मन की शान्ति से भिन्न चीज है। एक में बाह्य परिस्थितियों के साथ सन्तोष है क्योंकि वे हमारे तात्कालिक और अव्यवहित सुखोपभोग को पूरा करती हैं और दूसरे में चरित्र और आत्मा की तृप्ति है जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी बनी रहती है। निरी क्षणिक सन्तुष्टि को सच्चे सुख से अलग करने के लिए एक कसौटी भी दी जा सकती है। सच्चा सुख उन वस्तुओं से प्राप्त होता है जो अपने-आपमें तो उपभोग्य हैं ही, साथ ही उन इच्छाओं और प्रवृत्तियों को भी, जो सुख की स्रोत हैं, अधिक सुदृढ़ और व्यापक बनाती हैं। किन्तु एक क्षणिक सुख में इस प्रकार की समन्वयकारी और विस्तारक प्रवृत्ति नहीं होती। हमारे भीतर ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका उपयोग स्थायी लक्ष्यों को उत्पन्न करता और सुदृढ़ बनाता है, और निरी क्षणिक परितुष्टियों को, जो अशान्ति और उद्वेग पैदा करती हैं, पृथक् कर देता है। सच्चे सुख की पहचान यह है कि उसमें समन्वय होता है और अन्य मूल्यों के साथ एक हो जाने के लिए वह विस्तृत और व्यापक होने को उद्यत रहता है। पृथक्कता और संघर्ष या टक्कर में आने की प्रवृत्ति उन मानसिक स्थितियों में होती है जो केवल क्षणिक सुख बनकर ही रह जाती हैं।

---

1. वह सच्चा सुख इच्छा का उद्देश्य होने के बजाय विवेक और निर्णय का पैमाना है। इस तथ्य पर हम आगे अनुमोदन के अध्याय में विचार करेंगे।

### 4. श्रेयस् और बुद्धिमत्ता का भोगवादी सिद्धान्त

अब हम इच्छा और विचार के उचित उद्देश्य विषयक एक अन्य सिद्धान्त पर आते हैं जिसे भोगवादी या एपिक्यूरियन कहा जाता है। अब तक हमने जिन सिद्धान्तों पर विचार किया है उनका सम्बन्ध भावी उद्देश्यों से रहा है, जिनका विचारकर मनुष्य को अपनी वर्तमान इच्छा और प्रयत्न का नियमन करना चाहिए। किन्तु भावी सुख और दुःख बड़ी अनिश्चित वस्तुएँ हैं। वे सभी तरह की बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर हैं, जिनमें से सबसे बुनियादी परिस्थिति स्वयं जीवन का क़ायम रहना है और वह भी अत्यन्त अनिश्चित है। इसलिए जीवन के उतार-चढ़ाव को देखकर कुछ प्रेक्षक भविष्य की चिन्ता को श्रेयस् की प्राप्ति की एक अनुकूल परिस्थिति समझने के बजाय फिक्र और परेशानी का मूल समझते हैं। जो हमारे वश से बाहर की परिस्थितियों पर निर्भर है उसमें श्रेयस् की खोज करना बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि ऐसा आचरण विशुद्ध मूर्खता का द्योतक है। तब बुद्धिमत्ता इस बात में है कि वर्तमान को, चाहे वह कैसा भी हो, सुधारा जाए और उससे जो सुख पाया जा सकता है, उसे पाया जाए। प्राचीन उक्ति है, **वर्तमान का उपभोग करो**। यह विचार एडना सेंट विन्सेण्ट मिले की इन पंक्तियों में काव्यात्मक भाषा में व्यक्त किया गया है—

"मैं अपनी मोमबत्ती दोनों सिरों से जला रहा हूँ,
इसलिए वह नहीं टिकेगी रात-भर भी,
किन्तु हे मेरे शत्रुओ और मित्रो,
वह दे रही है एक उज्ज्वल सुन्दर प्रकाश…"

इसी बात को बहुत स्थूल भाषा में इस प्रकार कहा जाता है—'खा लो, पी लो, मौज उड़ा लो, यह दुनिया आनी-जानी है!'

किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार भी वर्तमान सुखों को बिना सोचे-समझे हस्तगत करने और सोच-विचारकर एक नियन्त्रित मार्गको अपनाने में अन्तर है। अनुभव हमें बताता है कि कुछ सुखोपभोग अत्यन्त क्षणास्थायी हैं और उनका परिणाम दुःख और कष्ट भी हो सकता है। सभी चरम और उग्र सुखों में यही बात है। एर तीव्र सुख या भोग की अति करने का शायद ही कभी अच्छा परिणाम होता हो; वह सम्पत्ति बनने के बजाय विपत्ति बन जाता है। जो सुखोपभोग अच्छे और श्रेयस्कर सिद्ध होते हैं वे शान्त और साम्यावस्था के सुख होते हैं। अनुभव बताता है कि वे बौद्धिक और सौन्दर्यबोधात्मक स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, जो हमारे अपने भीतर विद्यमान होते हैं, और इसीलिए जो हमारे नियन्त्रण में होते हैं। यौन वासना आदि नैसर्गिक वृत्तियों की परितुष्टि के सुख अधिक तीव्र हो सकते हैं, किन्तु वे न तो उतने स्थायी होते हैं और न सुख के भावी अवसरों के जन्मदाता, जितने कि पुस्तकों के अध्ययन, मित्रता या सौन्दर्य बोधात्मक

आनन्द की प्राप्ति से उत्पन्न सुख होते हैं। हमारी इन्द्रियों और नैसर्गिक तृष्णाओं का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से होता है, इसलिए वे हमें ऐसी स्थितियों से बाँध देती हैं जिन्हें हम नियन्त्रित नहीं कर सकते। ऐन्द्रियिक सुखों में से भी आँख और कान से प्राप्त होनेवाले सुख रसना और घ्राण से प्राप्य सुखों की अपेक्षा उत्कृष्ट-तर हैं। कारण, उनका बौद्धिक सुखों और प्रकृति में अधिक सामान्य और अधिक व्यापक रूप से पाई जानेवाली परिस्थितियों के साथ अधिक निकट का सम्बन्ध होता है। सूर्य के प्रकाश, बहते हुए पानी और तेज हवा का आनन्द शान्ति-मय और सहज सुलभ होता है। अपनी परितृप्ति को विलासिता की सामग्रियों के साथ जोड़ देना अपने-आपको एक कष्टमय खोज और सम्भावित निराशा के हवाले कर देना है। सादा जीवन अच्छा जीवन है, क्योंकि उसी में वर्तमान आनन्दोपभोग सबसे अधिक सुनिश्चित रहता है। निजी मित्रता सार्वजनिक जीवन से अधिक अच्छी है, क्योंकि मित्र अधिक स्वाभाविक रूप से परस्पर मिलते और एकता और सौहार्द को बढ़ाते हैं। सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का अर्थ—अपने भाग्य को ऐसी वस्तुओं के हवाले कर देना है जो हमारे नियन्त्रण से बाहर है, और अपने-आपको उग्र परिवर्तनों में या कम-से-कम निरन्तर उतार-चढ़ावों में फँसा लेना है।

यह सिद्धान्त ही भोगवाद का मूल रूप है। यह सिद्धान्त वासनामय सुखों के प्रति आत्मसमर्पण से, जो आम तौर पर भोगवाद का अर्थ समझा जाता है, वस्तुत भिन्न है। इसका सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में उपभोग के जो पदार्थ सर्वाधिक सुनिश्चित हैं, उनका भोग करो और बाह्य परिस्थितियों में अपने-आपको मत फँसाओ। **वर्तमान** सुखोपभोगों की सुरक्षितता की परिस्थितियों पर यह अधिक बल देना भोगवाद अर्थात् एपिक्यूरियन सिद्धान्त का बल भी है और कमजोरी भी।

यह सिद्धान्त पहले से ही भावी सुखों और दुःखों को देख लेने और उनका हिसाब लगाने की कठिनाइयों से, जो वैसे सिद्धान्तों को, जिन पर हमने पहले विचार किया है, व्यर्थ कर देती हैं, बचकर चलता है। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के अनुभवों में यह देखा गया है कि सरल और सन्तुलित सुखोपभोग अतिमात्रा में होनेवाली उत्तेजना की प्रबल परितुष्टि से अधिक सुरक्षित और अधिक स्थायी होते हैं। जो व्यक्ति पुस्तकों के अध्ययन और बौद्धिक व्यवसाय में आनन्द प्राप्त करता है और मैत्रीपूर्ण साथीपन में निपुण है, उसके परितुष्टि और परितृप्ति के स्रोत पूर्णतः उसके अपने ही भीतर होते हैं, जब कि ऐन्द्रियिक वास-नाओं की तृप्ति या धन और ख्याति के पीछे भागनेवालों के बारे में यह बात नहीं होती। इस प्रकार वर्तमान सुखों के उपभोग के सिद्धान्त का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह अर्थहीन नहीं है। आज के हलचल, दौड़-भाग और विलासिता के जमाने में, जबकि मनुष्य बाहरी और अस्थायी वस्तुओं में लिप्त रहते हैं, यन्त्र और व्यवसाय के

भौतिक परिणामों में व्यस्त रहते हैं और अपने ऊपर से नियन्त्रण खो बैठते हैं, इस शिक्षा की विशेष रूप से आवश्यकता है।

दूसरी ओर यह सिद्धान्त बुनियादी तौर पर विरक्ति और संयम का सिद्धान्त है, भले ही उसका स्वरूप एक ऐसी अत्युच्च बौद्धिक 'उदासीनता' का हो, जो व्यावहारिक जीवन के कोलाहल और संघर्ष से परे है। यदि वर्तमान को भविष्य से अलग करना सम्भव होता तो शायद सुख और आनन्द की प्राप्ति का इससे अच्छा व्यावहारिक नियम कोई न होता। किन्तु अपने निज के सुखोपभोग में स्वार्थ-पूर्वक मग्न रहने की जो बात इस सिद्धान्त से जुड़ी हुई प्रतीत होती है, वह भविष्य की चिन्ता को तिलांजलि देने के प्रयत्न का आवश्यक परिणाम है। इस प्रकार अन्ततः यह एकान्तता और निष्क्रियता का ही सिद्धान्त है। वह न केवल उस सुखोप-भोग की उपेक्षा करता है जो दु:साध्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर प्रतिकूल परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष से उपलब्ध होता है, बल्कि यह उस संघर्ष-स्थली से, जहाँ विशाल संख्या में लोग मजबूरन संघर्षरत हैं, पीछे हटने का प्रतिपादन करनेवाला सिद्धान्त भी है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो केवल उन्हीं को आकृष्ट कर सकता है, जो पहले से ही लाभ की स्थिति में हैं। वह यह मानकर चलता है कि और लोग क्योंकि संसार के कठिन और कठोर कामों में रत हैं, इसलिए कुछ लोग मजे से शान्त और सुरुचिमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जिन चीज़ों को वह अलग कर देता है उनकी दृष्टि से वह स्वार्थपूर्ण है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो उस समय हमेशा फले-फूलेगा, चाहे उसका नाम-भोगवाद के बजाय कुछ और रख दिया जाए, जबकि सामाजिक परिस्थितियाँ विक्षुब्ध और कठोर होंगी, ताकि सुसंस्कृत व्यक्ति अपने ही में सिमट सकें और अपने-आपको बौद्धिक और सौन्दर्य-बोधात्मक सुरुचि के विकास में लगा सकें।

### 5. सफलता ही उद्देश्य

इस सिद्धान्त का, कि नैतिकता की मुख्य माँग यह है कि उद्देश्यों के चुनाव में बुद्धिमत्ता से काम लिया जाए, तीसरा भेद 'सफलता' का सिद्धान्त है, जो प्रबुद्ध आत्महित के अर्थ में समझा जाता है। यह सिद्धान्त सुख या दु:ख के किसी विशेष सिद्धान्त से बँधा हुआ नहीं है और शायद ही कभी वह अन्य सिद्धान्तों के समान बौद्धिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किया गया हो। किन्तु व्यवहार में उस पर अमल बहुत होता है। इसकी ओर संकेत इस उक्ति में किया गया है कि 'ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति है।' यह सिद्धान्त व्यावहारिक विषयों में, जैसेकि व्यापार, राजनीति, प्रशासन आदि, जहाँ सफलता या असफलता को वाह्य सत्ता, ख्याति, धनोपार्जन और सामाजिक स्थिति की प्राप्ति के द्वारा नापा जा सकता है, लागू होता है। यह सिद्धान्त कार्यकुशलता और कार्यक्षमता को बहुत महत्त्व प्रदान करता है। वह मितव्ययिता,

चतुराई और परिश्रमशीलता की प्रशंसा करता है, सुस्ती और मूर्खता की निन्दा करता है। वह कला को सन्देह की दृष्टि से देखता है, उसे कला वहीं तक मान्य है, जहाँ तक कि उससे व्यावहारिक सफलता में निखार आता हो। विशुद्ध बौद्धिक कार्यों को भी वह अविश्वास की नज़र से देखता है, और उन्हें वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक कि उनका कोई ठोस व्यावहारिक परिणाम हो।

इस तथ्य के बावजूद, कि आचारशास्त्री लोग आम तौर पर जीवन के इस दृष्टिकोण के प्रति निन्दात्मक रुख अपनाते हैं, इसके पक्ष में कुछ कहा जा सकता है। प्रबुद्ध स्वार्थ और सफलता के लिए आयोजन और हिसाब लगाना परम प्रयोजन की दृष्टि से बहुत ऊँचे प्रतीत नहीं होते। किन्तु जब हम निरे अज्ञान, मूर्खता, लापरवाही और क्षणिक आवेश या आवेग के वशीभूत हो जाने से पैदा होनेवाली भारी हानि पर विचार करते हैं, तब हम निःशंक होकर इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यदि और भी अधिक लोग बाह्य सफलता में प्रबुद्ध दिलचस्पी लेने लगें तो संसार की दशा उससे अच्छी होगी जो आज है। और जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि जो आचरण अपने-आपको नैतिक कहकर गर्व करता रहा है, उसका कितना बड़ा भाग केवल सदाशयता मात्र है और ऐसे अच्छे इरादों से अधिक नहीं है, जिन्हें क्रियान्वित करने की शक्ति और क्षमता भी इरादा रखनेवालों में नहीं है, (एक कहावत के अनुसार नरक का मार्ग ऐसे उत्तम इरादों से ही पटा हुआ है), तब हम एक ऐसे सिद्धान्त की, जो सफलता पर जोर देता है, कुछ-न-कुछ इज्जत किए बिना नहीं रह सकते, फिर चाहे उसका सफलता का पैमाना बहुत ऊँचा न हो। इसके अतिरिक्त, ऐसे लोगों की संख्या बहुत नगण्य है, जो सांसारिक उपलब्धियों की सफलता से घृणा कर सकें। छात्र, इंजीनियर और पेशेवर लोग सफलता पर दृष्टि रखकर अपने अध्ययन, व्यवसाय और पेशे में अधिक लगन से काम करते रह सकते हैं। दूरदर्शिता से काम करने का सिद्धान्त, जिसका अर्थ सांसारिक सफलता को ही इष्ट मानकर चलना है, कम-से-कम लोगों को कुछ हद तक अपने काम पर लगाए तो रखता है और उन्हें भटकने और समय एवं शक्ति की बरबादी से बचाता तो है।

लेकिन इन सब अच्छाइयों के बावजूद इस सिद्धान्त के दोष काफी स्पष्ट हैं। वह जीवन के अधिक बाहरी पहलू से शायद ही ऊपर उठ सकता हो; वह 'तरक्की करने', 'काम को चलाए रखने' और 'काम को रुकने न देने' के विचार को प्रोत्साहित करता है, किन्तु साथ ही बिना किसी आपत्ति के इन चीजों के बारे में प्रचलित धारणाओं को ही पैमाने के रूप में स्वीकार करता है। एक ऐसे युग में भी, जबकि लोग केवल आर्थिक लाभ की प्राप्ति में ही पूर्णतः व्यस्त हैं, वह मूल्यों की प्रचलित धारणा की आलोचना नहीं करता। वह लाभ और हानि को ठोस भौतिक अर्थ में सोचने के लिए प्रोत्साहन देता है। **उपलब्धि के** सामान्य अर्थ में सफलता

कः विचार ऐसे समस्त नैतिक सिद्धान्तों का, जो व्यर्थ नहीं हैं और जो केवल आन्तरिक अनुभूति तक ही सीमित नहीं हैं, आवश्यक अंग है। किन्तु सफलता के जिस सिद्धान्त की हम यहाँ आलोचना कर रहे हैं, उसकी सफलता और उपलब्धि की धारणा बिलकुल ऊपरी, परम्परागत और अपरीक्षित है। वह कुछ ऐसे मूल्यों की, जो अधिक मानवीय और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, सर्वथा उपेक्षा कर कुछ अन्य मूल्यों पर आस्था रखता है। निःसन्देह नैतिकता इतनी 'दुनियावी' तो ज़रूर होनी चाहिए कि उसमें इस तथ्य की उपेक्षा न हो कि हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं, जहाँ हमें काम करना पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उपलब्धि को हमें बिल्कुल दुनियाबी ढंग से ही समझना चाहिए।

### 6. यतित्व ही उद्देश्य

बुद्धिमत्तापूर्वक उद्देश्यों के निर्धारण और श्रेयस् के निर्णय की एक अन्य व्याख्या ग्रीस में सिनिकवादी सम्प्रदाय ने की। जैसाकि हमने ऊपर देखा है, उद्देश्यों के बारे में सबसे बड़ी समस्या उन उद्देश्यों को, जो निकट भविष्य के और आंशिक दृष्टिकोण से श्रेयस्कर प्रतीत होते हैं, स्थायी और व्यापक श्रेयस्कर उद्देश्यों से पृथक् करने की है। इनमें से पहले उद्देश्य अधिक स्पष्ट होते हैं, जबकि दूसरे अर्थात् स्थायी और व्यापक श्रेयस्कर उद्देश्य विचार-विमर्श पर निर्भर करते हैं और उन्हें प्रायः तभी प्राप्त किया और क़ायम रखा जा सकता है जबकि उन पर धैर्य से और विस्तार से विचार किया जाए। यहाँ तक कि यह कहा जाता है कि जो वस्तुएँ केवल विचार-विमर्श और विवेक से अच्छी समझी जाती हैं उनमें मनुष्य को कार्य के लिए प्रेरित करने की उतनी शक्ति नहीं होती, जितनी कि अधिक सुखद प्रतीत होनेवाली और निकटवर्ती वस्तुओं में होती है, जो अधिक तात्कालिक आवेगों और कामनाओं को आकृष्ट करती हैं। इसलिए सिनिकवादी सम्प्रदाय ने उन क्रियात्मक कार्यों को, जो स्थायी आदत बन जाते हैं, महत्त्वपूर्ण वस्तु मानना बुद्धिमत्ता का अंग माना। कारीगर और शिल्पी निपुण होते हैं और सोच-विचार या किसी सिद्धान्त के कारण किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में नहीं लगे रहते, बल्कि रोज़मर्रा के अभ्यास से बनी आदत के कारण ही उसमें लगे रहते हैं। तब इस सिद्धान्त का नैतिकता के सिद्धान्त में भी क्यों न विस्तार किया जाए? सबसे बड़ी चीज़ है तात्कालिक नैसर्गिक क्षुधा और इच्छा को वश में करना। विचार उसे वशवर्ती बनाने में अपेक्षाकृत असमर्थ है, जबकि अभ्यास से बनी आदत समर्थ है। अतः उससे यह नैतिक सिद्धान्त निकलता है कि तब तक अच्छा काम **करते रहो** जब तक कि उसकी आदत न बन जाए।

सिनिक सम्प्रदाय ने प्रारम्भ में ठीक जिस रूप में यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, उस रूप में उसका पर्याप्त प्रभाव नहीं रहा। किन्तु उसकी यह अन्तर्निहित

धारणा, कि बुद्धिमानी इच्छाओं के दमन और नियन्त्रण में है और यह दमन विचार-विमर्श के बजाय स्वेच्छया किये गए अभ्यास से हो सकता है, उन सभी नैतिक विचारों की महत्त्वपूर्ण अंग रही है जिनमें किसी तरह के प्यूरिटनवाद (शुद्धवाद) का पुट है। अपने चरम रूप में यह सिद्धान्त यतित्ववाद अर्थात् एसेटिसिज्म (ग्रीक भाषा के एस्केटिज्म शब्द से जिसका अर्थ अभ्यास या अनुशासन है) कहलाता है। आम तौर पर यह समझा जाता है कि यतित्ववाद सुख और परितुष्टि के विचार के ही विरुद्ध है। वह परितुष्टि के सभी सामान्य रूपों को संदेह की दृष्टि से देखता है और उन्हें नैतिक दृष्टि से खतरनाक समझता है। किन्तु ऐसा वह एक भिन्न किस्म की अन्तिम परितुष्टि की खातिर ही करता है—जैसे कि कोई बलिदानी व्यक्ति इस आशा से इस संसार में दुःख भोगता है कि दूसरी दुनिया में उसे नित्य सुख-शान्ति मिलेगी अथवा इसलिए कि उसे अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा और वफ़ादारी से सन्तोष प्राप्त होता है। सामान्य सुख बहुत धोखा देनेवाले और भ्रामक होते हैं; वे मनुष्य के विवेक और कार्य को गलत रास्ते पर डाल देते हैं। उनकी भ्रामकता ही हमारे और सच्चे श्रेयस् को ग्रहण करने वाली बुद्धिमत्ता के बीच में बाधा के रूप में होती है। सामान्य इच्छा से प्राप्त होनेवाले सुख इतने प्रबल होते हैं कि यदि हमें वास्तविक सुख और सन्तुष्टि के प्रति वफ़ादार रहना है तो हमें उनका दमन करना पड़ेगा। उनके दमन का तरीका ऐसे अभ्यास करना है जो प्रकृत्या हमारे प्रतिकूल होते हैं। इन अभ्यासों से हम कष्ट सहन के प्रति अपने-आपको कठोर बनाते हैं, इच्छाओं के प्रलोभन से अपनी रक्षा कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त अभ्यास की बार-बार आवृत्ति इच्छा की तीव्रता को कमज़ोर कर देती है।

जॉन लॉक यती नहीं था। तो भी उसके इस कथन में एक यतित्ववादी तत्त्व है कि "मुझे यह बात बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होती है कि समस्त गुणों और श्रेष्ठता का मूल इस बात में निहित है कि जब बुद्धि और तर्क अनुमति न दें तो हममें अपनी इच्छाओं के दमन की शक्ति हो।" और उसने आगे कहा है, "यह शक्ति रूढ़ि से प्राप्त होती है और प्रारम्भ से ही अभ्यास करने से वह सरल और सुपरिचित हो जाती है। इसलिए यदि मेरी सुनी जाए तो यह कहूँगा कि आम प्रचलित ढंग के बजाय बच्चों को शैशव काल से ही अपनी इच्छाओं के त्याग और उनकी पूर्ति के बिना ही निर्वाह करने का अभ्यास डालना चाहिए।"[1] विलियम जेम्स भी यती नहीं था। फिर भी आदत के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उसने कहा है, "प्रतिदिन थोड़े-बहुत अकारण अभ्यास से प्रयत्न करने की अपनी मनः-शक्ति अपने भीतर सजीव रखनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अनावश्यक कामों में विधि-पूर्वक यती और वीर बनो। हर एक या दो दिन में बिना किसी कारण के भी कुछ-न-

1. ऑफ एजुकेशन, सैक्शन 38।

कुछ काम करो, ताकि जब अत्यधिक आवश्यकता की घड़ी आ पड़े तो तुम वह काम करने से घबराओ नहीं और उसकी परीक्षा को झेल सको।"[1]

इस तरह की सलाह में सत्य के तत्त्व को न पहचानना असम्भव है। ऐसे उद्देश्य जो सिर्फ विचार में ही सोचे गए हों, आवेश की तात्कालिकता की तुलना में कमज़ोर होते हैं। श्रेयस् के सम्बन्ध में हमारे विमर्शात्मक विवेक को विमर्श से बाहर भी एक साथी चाहिए, आदत ही यह साथी है। और आदतें केवल अभ्यास से ही बनती हैं, वे स्वतः समुद्भूत नहीं होतीं। वे बार-बार एक ही काम करने से पैदा होती हैं और उसके लिए बार-बार काम करने का आग्रह केवल संयोग पर ही नहीं छोड़ा जा सकता। यतित्ववादी सिद्धान्त को चरम सीमा तक खींचने की आवश्यकता नहीं है और फलतः यह मानने की ज़रूरत नहीं है कि दुःख सहन करने और सुखोपभोग को दमन करने में नैसर्गिक रूप से कोई गुण और लाभ है। किन्तु यह एक तथ्य है कि ज़बर्दस्त आदत डालने के लिए जब प्रारम्भ में कोई काम किया जाएगा तो उसमें कुछ-न-कुछ कष्ट होना प्रायः निश्चित है। 'अनुशासन' की कठोरता तो प्रसिद्ध ही है।

इस सिद्धान्त की भी उसूलन वही आलोचना की जाती है जो भोगवाद और सफलता के सिद्धान्त की की जाती है। इस विचार में कुछ सत्य का तत्त्व अवश्य है कि आवेश और वासना के प्रलोभनों का मुकाबला करने लायक प्रबल आदत बनाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। किन्तु तात्कालिक हल्के सुखों की प्राप्ति और सफलता की उपलब्धि की भाँति यह सत्य का तत्त्व भी निषेधात्मक रूप में नहीं विध्यात्मक रूप में वर्णित किया जाना चाहिए। इच्छाओं के दमन को अपने-आपमें एक उद्देश्य बनाने के बजाय एक ऐसा कार्य माना जाना चाहिए जो अधिक व्यापक और स्थायी श्रेयस् की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। आज ऐसे लोग बहुत ही कम होंगे जो उन प्रारम्भिक यतियों की भाँति चरमवादी हों, जो परिवार, राज्य, कला और विज्ञान को भी सन्देह की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि ये वस्तुएँ कामवासना, सत्ता की सांसारिक आकांक्षा या रूप की पिपासा और बुद्धि के दर्प को तृप्त कर सकती हैं। किन्तु पक्के आचारशास्त्री आज भी कभी-कभी दूसरों को, खासकर युवकों को, सभी नैतिक नियमों से विरक्त कर देते हैं, क्योंकि वे नैतिकता को एक निषेधात्मक वस्तु की ख़ातिर निषेधात्मक बना देते हैं, और स्वयं दमन और निग्रह को ही उद्देश्य में परिणत कर देते हैं।

आधुनिक समाज के अधिकतर क्षेत्रों में इस बात का अधिक ख़तरा नहीं है कि यतित्ववाद के सिद्धान्त को लोग बहुत गम्भीरता से लेंगे। किन्तु एक वास्तविक ख़तरा अवश्य है कि कुछ क्षेत्रों में इसकी शिक्षा का यह असर होगा कि जिन्हें

1. प्रिंसिपल्स ऑफ साइकॉलोजी, 1, पृष्ठ 125।

इसकी शिक्षा दी जाएगी वे एकदम विपरीत दिशा में चले जाएँगे और इस प्रकार वे यह सिद्धान्त अपना लेंगे कि हर प्रकार का अवरोध खतरनाक है और हर आवेग को खुलकर 'अभिव्यक्त' किया जाना चाहिए और हर इच्छा की पूर्ति की जानी चाहिए। वास्तव में अवरोध ख़तरनाक नहीं है, बल्कि उसे क्रियान्वित करने के वे तरीके ख़तरनाक हैं, जो वास्तव में अवरोध या नियन्त्रण नहीं करते, बल्कि जो इच्छा को ढककर चेतना से परे आड़ में कर देते हैं, उसे जबर्दस्ती दृष्टि और विचार से नीचे ढकेल देते हैं और इस प्रकार उसे परोक्ष और दूषित रास्तों से कार्य करने के लिए प्रोत्साहन देते हैं। हर विचार में कुछ-न-कुछ अवरोध का तत्त्व होता है; और नहीं तो वह उस समय तक तो इच्छा का अवरोध करता ही है जब तक कि उसके मूल्य की जाँच न हो जाए। आम तौर पर इसके परिणाम-स्वरूप और भी अधिक नियन्त्रण होता है जिसमें कि मूल इच्छा को अभिभूत कर एक अधिक व्यापक उद्देश्य में अन्तर्भूत कर दिया जाता है।

यतित्ववाद और 'उन्मुक्त अभिव्यक्ति' दोनों के सिद्धान्तों में एक ही भूल है। वह भूल है इस सत्य को न समझना कि दमन का निषेधात्मक तत्त्व एक नये उद्देश्य के निर्माण और एक नये श्रेयस् की रचना के लिए एक मूल्यवान तत्त्व है। महत्त्वपूर्ण चीज़ है इस नये श्रेयस् को समझना, एक ऐसी वस्तु को हृदयंगम करना, जो महज विपरीत आवेगों के उन्मूलन के प्रयत्न से नहीं, बल्कि विध्यात्मक और भावात्मक उपायों से उपलब्ध की जाती है। बृहत्तर हित पर जब अकेले विचार किया जाता है तब उसमें विरोधी प्रवृत्तियों के बल को क्षीण करने की शक्ति होती है। वास्तविक ख़तरा इस बात में है कि मनुष्य कहीं अव्यवहित और तात्कालिक आवेग में ही मग्न न हो जाए और अनुमोदित बृहत्तर उद्देश्यों के लिए किए जानेवाले कार्य को स्थगित न कर दे। जैसाकि जेम्स ने कहा है, "किसी के पास नैतिक उपदेशों का भण्डार चाहे कितना ही भरा हुआ हो···यदि उसने काम करने के हर अवसर का लाभ नहीं उठाया है तो उसका चरित्र सुधार और उज्ज्वलतर भविष्य के लिए बिलकुल अप्रभावित रहेगा···भले ही आपकी नैतिक आवेगों की अभिव्यक्ति संसार में सबसे छोटी चीज रहे—मसलन अगर आपको कोई और उत्तम और वीरतापूर्ण काम करने को न मिले तो भी आप केवल अपनी चाची से अधिक भद्रता से पेश आइए या घोड़ागाड़ी में किसी दूसरे के लिए अपनी सीट खाली कर दीजिए—किन्तु कोई-न-कोई अच्छा काम कीजिए अवश्य।" मिल्टन ने जिसे 'अस्थिर और छिपा हुआ गुण' कहा है, वह अस्थिर इसलिए है, क्योंकि वह छिपा हुआ है, क्योंकि जब मौक़ा आता है तब इस पर निर्णायक रूप से अमल नहीं किया जाता। सच्ची शक्ति ऐसे अभ्यासों से नहीं मिलती जो महज अभ्यास की ख़ातिर किए जाते हैं, खासकर निरे दमन के कामों से तो वह मिलती ही नहीं, बल्कि वह कर्मक्षेत्र में काम करने से मिलती है, जहाँ परिणाम प्राप्त

करने के लिए ठोस और भावात्मक रूप में शक्ति की आवश्यकता होती है।

उद्देश्यों की संकल्पना, जो इस आलोच्य सिद्धान्त में प्रधान रूप से रहती है, अपने चरम और तार्किक रूप में इस समय बहुत प्रचलित नहीं है। फिर भी इस पर विचार करना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अन्तर्निहित विचार नैतिकता को विशेष और पृथक् रुझानों का एक समूह मानने की प्रवृत्ति में जड़ जमाकर बैठ गया है। एक ओर नैतिक अच्छाई और दूसरी ओर उन सब वस्तुओं में, जो जीवन को पूर्णतर बनाती हैं, रुचि लेना—इन दोनों को आम तौर पर अलग-अलग समझा जाता है और नैतिक अच्छाई को ऐसे उद्देश्यों के एक संकीर्ण समूह तक ही सीमित कर दिया जाता है जिन्हें आम तौर पर इसलिए अच्छा समझा जाता है कि उनमें इच्छाओं का अवरोध और दमन अन्तर्निहित होता है। अनुभव बताता है कि इस रवैये का परिणाम यह होता है कि लोगों का ध्यान उन वस्तुओं पर केन्द्रित हो जाता है जो बुरी समझी जाती हैं। मनुष्य के मन पर हमेशा अपराध की भावना और उससे बचने की प्रवृत्ति छाई रहती है। फलतः चिड़चिड़ेपन और उदासी से मन आच्छन्न रहता है। ऐसा व्यक्ति दूसरों में दोष ढूंढ़ने और उनकी आलोचना करने का आदी हो जाता है। मनुष्य की मन की उदारता, जो मानवीय प्रकृति में विश्वास पर आधृत है, कुण्ठित हो जाती है। इसी बीच उच्च उद्देश्यों में ठोस भावात्मक दिलचस्पी, जो भरपूर शक्ति का स्रोत है, क्षीण हो जाती है। आम तौर पर मनुष्य में आत्मानुशासन ठोस भावात्मक मूल्यवाले उद्देश्यों में निरन्तर आस्था के परिणामस्वरूप ही पैदा होता है। जो व्यक्ति किसी उद्देश्य में पूर्ण दिलचस्पी लेता है—चाहे वह उद्देश्य किसी कला का हो या पेशे का या व्यवसाय का—वह कठिनाइयों और विकर्षक परिस्थितियों को झेल सकता है, क्योंकि वे श्रेयस् की प्राप्ति के लिए आपाततः झेलनी पड़ती हैं। उसे अपने श्रेयस् के सन्धान में ऐसे बहुत-से अवसर मिलेंगे जबकि वह अपने अधिक कठोर गुणों का उपयोग कर सकेगा। जो व्यक्ति अपनी किसी बुरी आदत को छोड़ने के प्रयत्न में भी खेल का-सा आनन्द ले सकता है, वह अन्ततः सफल होगा, किन्तु जो व्यक्ति इस प्रयत्न को वर्जन या निवृत्ति के निषेधात्मक दृष्टिकोण से देखेगा वह असफल हो जाएगा। प्राकृतिक श्रेयस् और नैतिक श्रेयस् में बहुत विरोध है—प्राकृतिक श्रेयस् व्यक्ति की तात्कालिक और अव्यवहित इच्छा को आकृष्ट करते हैं, जबकि नैतिक श्रेयस् को हम विचार-विमर्श के बाद ग्रहण करते हैं। किन्तु दोनों का यह अन्तर पूर्णतः निरपेक्ष और अन्तर्निहित नहीं है। नैतिक श्रेयस् भी एक प्राकृतिक श्रेयस् ही है, जो उसके विभिन्न सम्बन्धों पर विचार करने के बाद बद्धमूल और विकसित होता है। नैतिक श्रेयस् के साथ विरोध उसी प्राकृतिक उपभोग का होता है जो किसी ऐसी इच्छा का परिणाम है, जो विचार-विमर्श द्वारा प्रकाश में लाये गए किसी सम्बन्ध के कारण नहीं, बल्कि अपने-आप

ही मनुष्य के कार्य पर हावी होने दी जाती है और इसीलिए जो दृढ़ता से कायम रहती है।

## 7. निष्कर्ष : रुचियों का विकास ही उद्देश्य

हमने देखा है कि उद्देश्यों और श्रेयस् का विचार चरित्र और आचरण के साथ **बौद्धिक** पहलू के रूप में अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। व्यावहारिक बुद्धि प्राप्त करने और कायम रखने में कठिनाई यह है कि तात्कालिक आवेग और इच्छा अधिक प्रबल हो जाते हैं और बढ़ते-बढ़ते इतना विराट् आकार धारण कर लेते हैं कि दूरवर्ती और व्यापक श्रेयस् पर विचार के लिए कोई जगह ही नहीं रहती। यह अन्तर्द्वन्द्व वास्तविक द्वन्द्व होता है और हमारे अनेक गम्भीर नैतिक संघर्षों और त्रुटियों का मूल कारण होता है। मुख्यतः इसका हल यह है कि हम उन सब अवसरों का, जब हम-में परस्पर-विरोधी इच्छाओं का अन्तर्द्वन्द्व न चल रहा हो, उपयोग उन श्रेयस्कर उद्देश्यों के प्रति अपनी रुचि के विकास में करें, जिन्हें हम विचार-विमर्श के शान्त निश्चल क्षणों में अनुमोदित करते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि "सुसंस्कृत और विकसित मन...अपने चारों ओर के परिवेश में अखूट दिलचस्पी के अनेक स्रोत खोज लेता है; प्रकृति की वस्तुओं, कला की उपलब्धियों, कविता की कल्पना की उड़ानों, इतिहास की घटनाओं, मानव-समाज के तौर-तरीकों, उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य—सभी में उसे ये स्रोत मिल जाते हैं।" बहुत-से समय ऐसे आते हैं जबकि इन रुचियों के विकास में कोई बड़ी बाधा नहीं आती। इन परिस्थितियों में जो आदतें बनती और मजबूत होती हैं, वे विमर्शात्मक या 'सच्चे' श्रेयस् के साथ अस्थायी और तीव्र इच्छा द्वारा प्रस्तुत श्रेयस् के संघर्ष के क्षणों में कमज़ोरी और पराजय से रक्षा करने के लिए सबसे अच्छी किलेबन्दी का काम देती हैं। ऐसी दशा में उचित कार्यपद्धति यह होगी कि इन सच्चे श्रेयस्कर उद्देश्यों के उपभोग के अवसरों में वृद्धि की जाए और उनके साथ सम्बद्ध अनुभवों को अधिक गहरा बनाया जाए। तब नैतिकता हीनतर उद्देश्यों की प्रलोभनकारी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष के बजाय ठोस और भावात्मक नैतिकता बन जाती है। यह पद्धति यह गारंटी नहीं करती कि व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व फिर कभी पैदा होगा ही नहीं, या बृहत्तर श्रेयस् की रक्षा में वह कभी असफल नहीं होगा। किन्तु जब मनुष्य पहले कुछ समय तक विचार-विमर्श द्वारा प्रस्तुत इन सच्चे उद्देश्यों में सामान्य जीवन के **प्राकृतिक** उद्देश्यों की भाँति आनन्द ले चुका होता है तो भविष्य में उनके प्रति उसकी **विमर्शात्मक** आसक्ति और आस्था अधिक बढ़ जाती है। एक बार विचार द्वारा जो आदर्श उद्देश्य बद्धमूल हो जाते हैं, वही जब बिना विचार के सामान्य रूप से हमारे सामने आते हैं तब भी उनका आदर्श रूप नष्ट नहीं होता। उनमें हमारी उतनी ठोस और भावात्मक दिलचस्पी रहती है, आचरण को नियन्त्रित

और प्रभावित करने की उनकी शक्ति उतनी ही अधिक दृढ़ हो जाती है।

यह तथ्य इस अध्याय में विचारित विविध दृष्टिकोणों की आलोचना में पाए जाने वाले सर्वसामान्य तत्त्व को उभारकर सामने ले आता है। नैतिक बुद्धिमत्ता सम्बन्धी सुखवादी दृष्टिकोण के प्रसंग में जिस सत्य की ओर इंगित किया गया था (इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक बुद्धिमत्ता इस बात में है कि भावी सुखों और दुःखों का पहले से ही अनुमान और हिसाब लगा लिया जाए) वह यह था कि जब दूरवर्ती वस्तुओं का विचार मन में आता है तब उसके साथ **वर्तमान** आनन्द भी आ सकता है। किन्तु इस सत्य में एक भूल है और वह यह है कि हम यह कल्पना कर लेते हैं कि विचार-विमर्श के समय हमारे विचार दूरवर्ती वस्तुओं के बजाय दूरवर्ती सुखों की ओर जाते हैं। ज़ो व्यक्ति अच्छे स्वास्थ्य की साधना के लिए प्रयत्न करता है, वह उससे प्राप्त होनेवाले सुखों की बात नहीं सोचता। अच्छे स्वास्थ्य के परिणामस्वरूप जो वस्तुएँ प्राप्त होंगी और जो काम किये जाएँगे, उनका विचार करते समय वह एक **वर्तमान** आनन्द भी प्राप्त करता है और वह आनन्द उस स्वास्थ्य को प्राप्त करने के उसके प्रयत्नों को सुदृढ़ बनाता है। जैसाकि दो हज़ार वर्ष से भी अधिक समय पूर्व प्लेटो और अरस्तू ने कहा था, नैतिक शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे चरित्र का विकास करता है जो अच्छी बातों में सुख और बुरी बातों में दुःख अनुभव करे।

कुछ ऐसी ही बात इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता ऐसे उद्देश्यों के बारे में विवेक और निर्णय करने में है जो कालोचित हों और जिन्हें अपनाना व्यावहारिक दृष्टि से 'अच्छी नीति' हो। जहाँ तक यह सिद्धान्त उपलब्धि के लिए आवश्यक साधनों और परिस्थितियों पर बल देता है और इस प्रकार नैतिकता को खोखली भावनात्मक बातों और कल्पनाओं के राज्य से, जिसे भूल से आदर्शवाद कह दिया जाता है, बाहर निकाल देता है, वहाँ तक तो वह सही है। इस सिद्धान्त में ग़लती यह है कि इसमें मूल्यों के वे क्षेत्र सीमित कर दिये गए हैं जिनमें कि उपलब्धि वांछनीय है। सफलता की धारणा में केवल ठोस भौतिक वस्तुओं को ही शामिल करना और संस्कृति, कला, विज्ञान तथा दूसरों के साथ सहानुभूति आदि उद्देश्यों को सम्मिलित न करना बुद्धिमत्ता के बजाय मूर्खता है। एक बार जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार के श्रेयस् को मूर्त्त रूप में और आन्तरिकता के साथ अनुभव कर चुकता है, तब वह बाह्य उपलब्धियों में असफल होना भले ही स्वीकार कर ले, किन्तु वह उस श्रेयस् की प्राप्ति के लिए प्रयत्न को त्यागना कभी पसन्द नहीं करेगा। प्रयत्न और उद्योग के लिए लगन अपने-आपमें एक ऐसा आनन्द है जिसको विकसित किया जाना चाहिए। इस आनन्द के बिना जीवन में एक अभाव रह जाता है। जैसाकि जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है, "कुछ चीज़ें जो व्यावहारिक और कालोचित कही जाती

हैं, उपयोगी नहीं होतीं, बल्कि वास्तव में हानिकर वस्तुओं की ही एक शाखा होती हैं।" जो वस्तुएँ कभी-कभी 'व्यावहारिक' समझी जाती हैं, वही समुचित विचार-विमर्श करने पर वास्तव में अत्यन्त अकालोचित और अदूरदर्शितापूर्ण प्रतीत होती हैं। संकीर्ण और अदूरदर्शितापूर्ण कालोचित वस्तुओं को पसन्द करने की प्रवृत्ति को ख़त्म करने का तरीका यह नहीं है कि व्यावहारिक आदर्शों को आध्यात्मिक आदर्शों की तुलना में नीचा या स्वार्थपूर्ण कहकर निन्दित किया जाए, बल्कि उसका तरीका यह है कि विमर्शात्मक मूल्यों के वास्तविक उपभोग के सभी सम्भव अवसरों का उपयोग किया जाए और ऐसे कामों और प्रवृत्तियों में भाग लिया जाए जो उनके दायरे को विस्तार करें।

इसीलिए नैतिक दृष्टि से बुद्धिमान व्यक्ति 'अभ्यास' करने की आवश्यकता को अनुभव करते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि तात्कालिक इच्छाओं और आवेशों द्वारा सुझाये गए श्रेयसों के धोखे में आने से बचने के लिए रक्षा के उपाय के रूप में आदत का बड़ा महत्त्व है। किन्तु वे यह भी जानते हैं कि केवल निवृत्ति के लिए निवृत्ति और शरीर को कष्ट देने के लिए कृच्छ्र साधना कोई बुद्धिमत्तापूर्ण और तर्कसंगत उद्देश्य नहीं है। किसी कार्य का महत्त्वपूर्ण सहचर शक्ति की अनुभूति है और यह शक्ति की अनुभूति एक ठोस भावात्मक उद्देश्य की वास्तविक उपलब्धि में प्रगति की सहचारिणी होती है। इसके बाद दूसरा स्थान सौन्दर्यानुभूति का है, भले ही उसका उतना ही महत्त्व न हो (कुछ ख़ास स्वभाव के आदमियों में तो उसका शक्ति की अनुभूति से अधिक महत्त्व होता है)। गोल्फ या टैनिस का एक खिलाड़ी अपने अभ्यासों में खूब आनन्द ले सकता है, क्योंकि वह शरीर को 'फॉर्म' में रखने के मूल्य को जानता है। एमर्सन ने तो निवृत्ति में भी एक **सौन्दर्य** का उल्लेख किया है। मृदुता नाप-तोल के सही अनुपात की सहचारिणी है और बिना उचित नाप-तोल के कोई कला नहीं हो सकती। किसी वस्तु में नाप-तोल के विवेक और उचित अनुपात की उपयुक्तता की अनुभूति के कारण जो संयम पैदा होता है वह केवल संयम के कारण किये जाने वाले संयम से भिन्न किस्म का होता है। किसी भी प्रकार की अति या उग्रता को अप्रिय अनुभव करना उसे ग़लत मानते हुए भी आकर्षक और प्रिय अनुभव करने की अपेक्षा अच्छा है।

अन्तिम बात यह है कि जिसे हम भोगवाद कहते हैं उसके अन्तर्निहित सत्य में एक ऐसा तत्त्व है जिस पर हमने बहुत बल दिया है। वह तत्त्व यह है कि वर्तमान मूल्य को एक अज्ञात और अनिश्चित भविष्य के लिए बलिदान करने के बजाय वरणीय वस्तुओं के **वर्तमान** उपभोग को पोषित करना महत्त्वपूर्ण है। यदि आम लोग इसका अर्थ निरी आत्म-रति, स्वार्थ और दूरवर्ती उद्देश्यों की प्राप्ति के रचनात्मक प्रयत्न का विनाश समझते हैं तो इसका कारण यह है कि इसमें उपभोग्य मूल्यों के बजाय केवल उपभोग पर ही बल दिया जाता है। इस अध्याय में विचार

किये गए अन्य सिद्धान्तों की भाँति इस सिद्धान्त में भी निष्कर्ष यह है कि जिन श्रेयसों को हमारा विचार-विमर्श अनुमोदित कर देता है उनके हर सम्भव अवसर पर सीधे उपभोग को समुन्नत करने की आवश्यकता है। नैतिकता में इच्छाओं या श्रेयस् की सीधी परितुष्टि को कोई स्थान न देना विचार द्वारा अनुमोदित श्रेयस्कर उद्देश्यों की प्रेरक शक्ति को कमज़ोर करना-मात्र है।

हमारी यह चर्चा और अध्ययन उन श्रेयसों पर केन्द्रित रहे हैं जिन्हें मनीषी या नैतिक दृष्टि से 'बुद्धिमान्' व्यक्ति तात्कालिक और तीव्र इच्छा, आवेग और नैसर्गिक तृष्णा की परितुष्टि की अपेक्षा अधिक उत्तम स्वीकार करता है। इस प्रकार हमने देखा है कि विचार-विमर्श का काम मूल्य के बारे में ऐसा निर्णय और विवेक करना है जिसमें कि अलग-अलग परितुष्टियाँ एक संगत और समन्वित पूर्ण आचरण के अविभाज्य अंगों के रूप में निहित हों। यदि मूल्य एक-दूसरे के मार्ग में बाधक न हों, अर्थात् एक इच्छा की परितुष्टि दूसरी की परितुष्टि के साथ असंगत न हो तो विचार-विमर्श की आवश्यकता ही न पड़े। हमें जो चीज़ जिस रूप में मिलती है उसी रूप में हमें उसका आनन्द लेना चाहिए। बुद्धिमत्ता का, जिसे सामान्य तौर पर दूरदर्शिता और समुचित विवेक कहा जाता है, अर्थ परिणामों को इस प्रकार पहले से ही देख लेना है कि उनसे हम ऐसे उद्देश्य निर्धारित कर सकें जो परस्पर संगत भी हों और एक-दूसरे को सुदृढ़ भी बनाते हों। बृहत्तर श्रेयस् को छोटे श्रेयस् के मुकाबले में त्याग देना नैतिक मूर्खता है। दूसरे शब्दों में नैतिक मूर्खता का अर्थ एक परितुष्टि को इस ढंग से ग्रहण करना है कि वह हमें और परितुष्टियों को प्राप्त करने से रोके और उससे अन्त में हमें कठिनाई और अपरितोष का भागी बनना पड़े।

अभी तक हमने उन सामाजिक परिस्थितियों का कोई जिक्र नहीं किया है जो मन के दूरदर्शितापूर्ण और बुद्धियुक्त रवैये के निर्माण को प्रभावित करती हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि मनुष्य जो शिक्षा प्राप्त करता है और उसके साथियों में जो आदतें होती हैं, वे दोनों ही उसके मन पर गहरा असर डालती हैं। शिक्षा का अभिप्राय स्कूली शिक्षा उतना नहीं, जितना कि व्यक्ति के समाज की परम्पराओं और प्रथाओं का प्रभाव है। इसका सरलतम उदाहरण एक बिगड़ा हुआ बच्चा है। जिस व्यक्ति को हर इच्छा के आगे झुक जाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है, जिसे हर समय मनचाही चीज़ पाने के लिए दूसरों से सहायता मिलती रहती है, उसे अगर विमर्शात्मक मूल्यांकन की आदत डालनी हो तो उसे असाधारण बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता होगी। जो बात व्यक्तिगत स्तर पर सही है, वही व्यापक सामाजिक स्तर पर भी सही है। यह सम्भव है कि एक समाज में ही यह आम प्रवृत्ति हो कि वह स्थूल और 'भौतिक' सुखोपभोग को अधिक महत्त्व दे और किसी भी निकटवर्ती प्रतीत होनेवाले श्रेयस् को हस्तगत करने के लिए अधीर और त्वरित रहता हो।

यह प्रवृत्ति आज के अमेरिकी जीवन के अनेक पहलुओं में पाई जाती है। हमारी अर्थव्यवस्था दूसरों पर अधिकार जताने, आडम्बर, दिखावे, विलासिता और आर्थिक वैभव की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है। इसके विपरीत अधिक आदर्श सौन्दर्य-बोधात्मक और बौद्धिक मूल्योंवाले श्रेयसों को और उन श्रेयसों को, जो ऊपरी साथीपन के बजाय हार्दिक मित्रता पर निर्भर हैं, गौण बना दिया जाता है। इसलिए चरित्र के विमर्शात्मक और चिन्तनात्मक रवैयों को समुन्नत करने की आवश्यकता आज पहले से अधिक है। सबसे बढ़कर आवश्यकता सामाजिक परिस्थितियों के पुनर्निर्माण की है ताकि वे स्वतः ही अधिक पूर्ण और अधिक स्थायी मूल्यों को प्रतिष्ठित करें और उन सामाजिक आदतों को कम करें जो विचार-विमर्श से रहित आवेगों का खुलकर खेलना पसन्द करती हैं या जो मनुष्य को निरे दैनन्दिन जीवन और पहले से चली आ रही परम्पराओं में पड़े रहने में ही सन्तोष अनुभव कराती हैं। न्यायपूर्ण और उदार सामाजिक व्यवस्था मूल्यों का निर्णय और विवेक करनेवाली बुद्धि की रक्षा के लिए एक मजबूत किलेबन्दी है। सैंटायना ने कहा है :

"यदि हमारे जीवनों में एक उत्कृष्टतर प्रणाली स्थापित हो सके तो हमारा चिन्तन भी अधिक सुव्यवस्थित हो जाएगा। मानव-जाति तीव्र अनुभूति या व्यक्तिगत प्रतिभा या बाहरी दुनिया में निरन्तर व्यवस्था के अभाव के कारण बार-बार बर्बरता और अन्धविश्वासों में नहीं फँसती; बल्कि अच्छे चरित्र, अच्छे उदाहरण और अच्छे शासन के अभाव के कारण ऐसा होता है। मनुष्यों में उच्च और महान् जीवन जीने की बहुत भावनात्मक क्षमता है, आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे इसके लिए एक-दूसरे को अवसर दें। राजनीतिक पूर्णता का आदर्श यद्यपि अभी बहुत अगाध और दूरवर्ती है तो भी वह पाया अवश्य जा सकता है, क्योंकि वह उतना ही निश्चित और स्थिर है जितनी कि मानवीय प्रकृति।"[1]

अन्त में हम यह संकेत करना चाहते हैं कि इस अध्याय में किये गए विचार और अध्ययन से हमें **भौतिक** और **आदर्श** (आध्यात्मिक) दोनों प्रकार के मूल्यों की अवधारणा का एक ऐसा अर्थ मिल गया है जिसकी हम अनुभव से पुष्टि भी कर सकते हैं। दोनों में अन्तर यह है कि आदर्श श्रेयस् वे हैं जो हमारी कल्पना में उदित होने पर उनके सम्बन्धों की व्यापक परीक्षा करने के बाद विचार-विमर्श द्वारा अनुमोदित होते हैं और भौतिक श्रेयस् वे हैं जिनके व्यापक सम्बन्धों की परीक्षा नहीं की गई है। हम कोई ऐसी सूची तैयार नहीं कर सकते, जिसके बारे में हम यह कह सकें कि अमुक-अमुक उद्देश्य तो सर्वदा और आन्तरिक रूप से आदर्श हैं

1. रीजन इन साइन्स, पृष्ठ 320।

और अमुक-अमुक उद्देश्य भौतिक होने के कारण हीन हैं। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें कि एक ऐसे मूल्य का, जो धर्म से सम्बद्ध होने के कारण आध्यात्मिक कहा जाता है, उपभोग निरा अतिभोग हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन परिस्थितियों में ऐसे आध्यात्मिक मूल्यों का आनन्द केवल ऐन्द्रियिक संवेग का आनन्द बन जाता है। दूसरी ओर ऐसे अवसर भी आते हैं जबकि भौतिक परिवेश और परिस्थितियों की ओर ध्यान देना ही आदर्श श्रेयस् हो जाता है, क्योंकि पूरी तरह विचार करने पर हमारी बुद्धि उसी को अनुमोदित करती है। किन्तु इन विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़ दिया जाए, तो सामान्य तौर पर हम निश्चिन्ततापूर्वक कह सकते हैं कि कुछ श्रेयस् आदर्श होते हैं, जैसे कि कला, विज्ञान, संस्कृति, विचारों और ज्ञान के आदान-प्रदान सम्बन्धी श्रेयस्। किन्तु इसका कारण यह है कि हमारे अतीत अनुभव ने हमें यह बताया है कि खूब गहन विचार करने पर इस **किस्म** के मूल्यों के अनुमोदित होने की सम्भावना है। इसलिए एक **पूर्व-धारणा** उनके पक्ष में विद्यमान है, किन्तु ठोस मूर्त्त उदाहरणों में केवल पूर्व-धारणा ही उनके पक्ष में होती है। यह कल्पना करने का, कि उनमें **स्वतः और प्रकृत्या** ही उच्च आदर्श-मूल्य निहित हैं, अर्थ यह होगा कि हम अधकचरे शौकिया कलाकार और निरे सौन्दर्य-संवेदी की जीवन-पद्धति का समर्थन करते हैं और जीवन के सामान्य प्रवाह में अनुभव किये गए समस्त श्रेयसों को नीति-विरुद्ध या अनैतिक ठहरा देते हैं। वास्तव में ऐसे स्थान और समय—अर्थात् ऐसे सापेक्ष सम्बन्ध हो सकते हैं जिनमें सामान्य क्षुधाओं की पूर्ति भी, जिन्हें साधारणतः भौतिक और ऐन्द्रियिक कहा जाता है, आदर्श हो। यदि ऐसा न होता तो यतित्ववाद ही एकमात्र नैतिक मार्ग होता। सच्चे श्रेयसों के निर्धारण के लिए विचार-विमर्श का काम हमेशा के लिए एकबारगी नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए हम श्रेयसों की कोई ऐसी तालिका तैयार नहीं कर सकते जिसमें हमेशा के लिए ऊँचे और नीचे श्रेयसों का एक स्थायी निश्चित क्रम निर्धारित कर दिया जाए। यह निर्धारण करने की आवश्यकता तो हमेशा बनी रहती है और वह ठोस और मूर्त्त परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर बार-बार किया जाता रहना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चिन्तन और अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है।

3

# अधिकार, कर्त्तव्य और वफ़ादारी

## 1. अधिकार की कल्पना

पिछले अध्याय में जिन सिद्धान्तों पर हमने विचार किया है वे परस्पर बहुत भिन्न हैं। किन्तु उन सबमें एक बात समान है कि वे श्रेयस् को नैतिकता का केन्द्रीय तथ्य मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि नैतिकता की सबसे बड़ी समस्या इच्छा और कार्य के उन उद्देश्यों का निर्धारण है जो सचमुच अच्छे हैं और तर्क से भी अच्छे सिद्ध होते हैं। किन्तु फिर भी नैतिकता में कुछ ऐसे तत्त्व भी होते हैं जो किसी भी प्रकार की परितुष्टि से बिलकुल स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए बच्चों को निरन्तर यह बताया जाता है कि उन्हें अच्छा काम सिर्फ इसलिए करना चाहिए, क्योंकि वह अच्छा है। वयस्क लोग भी अपने-आपको कुछ ऐसे उत्तरदायित्वों से दबा हुआ पाते हैं जो अवश्य करणीय होते हैं और फिर भी उन्हें उनकी इच्छाओं की परितुष्टि से रोकते हैं। हम अपने-आपको अधिकारी सत्ता के अधीन, कानून के मातहत और ऐसे उत्तरदायित्वों के वाहक पाते हैं जिन्हें हम स्वयं नहीं चुनते, फिर भी जिनका पालन करना हमारे लिए अनिवार्य होता है। नैतिकता में भी एक प्रकार का आदेश और कर्त्तव्य का पुट होता है जिसके बारे में कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो यह सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता कि किसी इच्छा की परितुष्टि ही श्रेयस् है; यहाँ तक कि इच्छा की युक्तियुक्त परितुष्टि को भी श्रेयस् नहीं माना जा सकता। हमें बड़े पैमाने पर यह सिखाया जाता है कि इच्छा के तकाजों की अपेक्षा क़ानून के दावे बड़े होते हैं और स्वार्थ का अनैतिक सिद्धान्त ही हमें सुख को इन दावों के प्रति वफ़ादारी से आगे रखने के लिए प्रेरित करता है।

क्योंकि ये तत्त्व आचरण में इतने प्रमुख होते हैं, इसलिए, जैसीकि हम आशा करते हैं, एक सिद्धान्त ऐसा भी है जो इन्हें केन्द्र बनाकर चलता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के समर्थक नैतिकता के प्रसंग में श्रेयस् का उल्लेख ही न करते हों, यह बात नहीं है, परन्तु वे श्रेयस् का अर्थ उससे बिलकुल भिन्न समझते हैं, जोकि पीछे विचार किये गए सिद्धान्तों में माना गया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि एक ऐसा श्रेयस् भी है जिसका अर्थ इच्छाओं की परितुष्टि है, किन्तु उसे वे नैतिकेतर श्रेयस् मानते हैं। इस सिद्धान्त के चरम उग्र रूप में तो इसे अनैतिक श्रेयस् भी मान लिया जाता है। इन लोगों के अनुसार नैतिक श्रेयस् वह है जो सही हो, जो क़ानून और कर्त्तव्य आदेश के अनुसार हो। लोगों को जो वस्तु उचित है उसके आदेशों और तकाजों

की ओर ध्यान देने में सन्तोष अनुभव करना चाहिए। किन्तु यह सन्तोष प्राकृतिक आवेगों और अनुरागों की पूर्ति से प्राप्त होनेवाले सन्तोष से भिन्न किस्म का होता है।

श्रेयस्कर और उचित का संघर्ष उन मामलों में बहुत स्पष्ट रूप में दीख पड़ता है, जिनमें सामाजिक तकाजे इच्छा के विपरीत होते हैं। एक बच्चा घास पर दौड़ना चाहता है। उसे बताया जाता है कि घास का मैदान दूसरे आदमी का है और उसे उसमें नहीं जाना चाहिए। फूल उसका ध्यान आकृष्ट करते हैं और वह उन्हें तोड़ना चाहता है। किन्तु उसे बताया जाता है कि वे दूसरे आदमी की सम्पत्ति हैं और उसे उनकी चोरी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार के उदाहरण रोज़ ही देखने में आते हैं। समाज की प्रथाएँ और क़ानूनी नियम एक व्यक्ति की इच्छाओं और परितुष्टियों के विरोध में खड़े हो जाते हैं और उस पर निषेध और प्रतिबन्ध लगा देते हैं।

हर रोज़ के अनुभव में हम देखते हैं कि क़ानून और उसके द्वारा थोपे जाने वाले कर्त्तव्यों का संघर्ष उससे अधिक संघर्ष पैदा करता है, जितने कि तात्कालिक इच्छाओं द्वारा निर्धारित उद्देश्यों और विचार-विमर्श से निर्धारित उद्देश्यों की, जिनकी हमने पिछले अध्याय में चर्चा की है, असमानतासे पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए बच्चों से हमेशा यह माँग की जाती है कि वे माता-पिता और अध्यापकों के आदेश का पालन करें। वे अपने-आपको व्यक्ति और नियमों के आदेशों के अधीन पाते हैं। नैतिकता के सिद्धान्त बुद्धिमत्तापूर्ण दूरदर्शिता द्वारा प्रदर्शित प्रयोजनों और उद्देश्यों के रूप में उनके सामने नहीं आते, वल्कि औचित्य, कानून और कर्त्तव्य के नाम में प्रामाणिकता का दावा करनेवाले आदेशों और निषेधों के रूप में आते हैं। उनके लिए नैतिक दृष्टि से अच्छी चीज़ वही है जिसकी अनुमति और आज्ञा दी जा सकती है, जो क़ानूनी है; और नैतिक दृष्टि से बुरा वह है जिसका निषेध किया गया है जो ग़ैरक़ानूनी है। इस प्रकार नैतिकता जो प्रधान उद्देश्य या प्रयोजन हमारे सामने उपस्थित करती है वह यह है कि नियमों का पालन करो, अधिकारी सत्ता का आदर करो और जो सही और उचित है उसके प्रति निष्ठावान् रहो।

जो विचारक उद्देश्यों, श्रेयस् और अन्तर्दृष्टि की अवधारणा को सबसे प्रधान बताते हैं, उनका इस प्रकार की नैतिकता का, उसके अपरिष्कृत रूप में, विरोध करना स्वाभाविक और तर्कसंगत है। वे यह कह सकते हैं कि विमर्शात्मक नैतिकता में इसके लिए कोई जगह नहीं है, क्योंकि इसमें सिर्फ यह स्वीकार किया जाता है कि कुछ लोगों को पहले से चली आ रही प्रथा के अनुसार कुछ अन्य लोगों के आचरण को निर्देशित करने का अधिकार है। हम बिना किसी तर्क के यह स्वीकार करेंगे कि आजकल अधिकार और आज्ञापालन का जिस रूप में उपयोग किया जाता है, उसे देखते हुए उक्त विचारकों की यह आपत्ति सही है। किन्तु इसमें अन्तर्निहित सिद्धान्त को इतनी आसानी से नहीं उड़ाया जा सकता। कुछ लोगों का कहना है कि 'उचित' का अर्थ सिर्फ वह मार्ग या पथ है जो श्रेयस् की ओर ले जाता है।

सही कार्य का प्रामाण्य उसके द्वारा सिद्ध किए जानेवाले श्रेयस् का परिणाम है। अथवा यह कहा जाता है कि संघर्ष श्रेयस् और सही कार्य में नहीं बल्कि उत्कृष्ट श्रेयस् और निकृष्ट श्रेयस् में है, क्योंकि क़ानून एक सामाजिक श्रेयस् का प्रतिनिधित्व करता है जो व्यक्तिगत श्रेयस् से ऊँची चीज़ है। इस प्रकार वास्तविक समस्या यह है कि लोगों को यह समझाया जाए कि सामाजिक श्रेयस् ही उनका अपना सच्चा श्रेयस् है। इनमें से प्रथम उक्ति, कि सही श्रेयस् तक पहुँचने का मार्ग है, उन उक्तियों के अनुकूल है जिनमें सही का अर्थ उचित या अनुकूल बताया जाता है। हमें साधनों का उपयोग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना पड़ता है। और कुछ साधन परिस्थितियों के अनुसार ढाल लिए जाते हैं और कुछ नहीं। इनमें से पहले साधन वाजिब, अनुकूल और उचित होते हैं और दूसरे ग़लत, गैरवाजिब और प्रतिकूल। श्रेयस् की प्रधानता की दूसरी उक्ति में इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि समस्त मानवीय अनुभव हमें यह दिखाता है कि यदि मानव-समाज के अनुभव क़ानूनों और प्रथाओं के रूप में मूर्त्त न हो तो व्यक्ति यह निर्णय नहीं कर सकते कि क्या अच्छा और श्रेयस्कर है। व्यक्ति का अनुभव सँकरा होता है और समूची जाति का व्यापक। क़ानून मुख्यतः यह बताते हैं कि समाज की गम्भीर और सुविचारित राय में व्यक्तियों के लिए वास्तव में श्रेयस्कर क्या है। इस आधार पर क़ानून की प्रामाणिकता व्यापक और विमर्श द्वारा अनुमोदित श्रेयस् की प्रामाणिकता है।

सही और उचित कार्य श्रेयस् की सिद्धि का साधन है, इस धारणा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह निश्चित रूप से **वांछनीय** है कि जो काम सही और उचित समझे जाते हैं वे वास्तव में श्रेयस् की अभिवृद्धि में सहायक होने चाहिए। किन्तु यह विचार इस तथ्य का उन्मूलन नहीं करता कि अनेक मामलों में **औचित्य की धारणा** परितुष्टि और श्रेयस् की धारणा से बिल्कुल स्वतन्त्र होती है। जब माता-पिता बच्चों को समझाते हैं कि "यह काम उचित है और इसलिए तुम्हें उसे करना चाहिए," तब यह आशा की जानी चाहिए कि उस काम को करने से वास्तव में कोई भलाई (श्रेयस्) होगी। किन्तु एक कल्पना के रूप में 'औचित्य' एक ऐसे तत्त्व का समावेश करता है जो श्रेयस् (भलाई) के तत्त्व से बिलकुल बाहर है। यह तत्त्व है **आहरण का, माँग का**। एक सीधे रास्ते का अर्थ है ऐसा रास्ता जो मुड़ता न हो, जो सर्वोत्तम हो। किन्तु साथ ही उसका अर्थ एक नियन्त्रित और सुव्यवस्थित मार्ग भी है। एक व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से यह स्वीकार कर सकता है कि एक कार्य मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि वह एक बृहत्तर अन्तिम श्रेयस् को एक निकटवर्ती श्रेयस् के आगे बलिदान कर देता है। किन्तु तब वह यह प्रश्न कर सकता है कि यदि मैं मूर्ख बनना चाहता हूँ तो क्यों न बनूँ? ग़लत और अनुचित का विचार एक पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व का समावेश करता है और वह यह है कि नैतिक प्रामाण्य की दृष्टि से वह काम करना एक उचित माँग को स्वीकार करने से इन्कार करना है। श्रेयस्

को उचित (सही) में परिणत करने के लिए यह स्पष्ट धारणा अवश्य होनी चाहिए कि जो वस्तु तर्कसंगत है, वह प्रामाणिक है।

क़रीब-क़रीब यही बात तब भी कही जानी चाहिए जब हम यह कहते हैं कि जो संघर्ष हमें प्रतीत होता है वह सामाजिक भलाई और व्यक्तिगत भलाई के बीच है या एक बृहत् तथा व्यापक श्रेयस् और एक छोटे श्रेयस् के बीच है, और इस संघर्ष में छोटे श्रेयस् के बजाय बृहत्तर श्रेयस् को चुनना अधिक युक्तियुक्त है। वास्तविक कठिनाई यह है कि यह अन्तर्द्वन्द्व जिस व्यक्ति में चलता है वह यह महसूस नहीं करता कि सामाजिक हित किसी भी रूप में उसका भी हित है। यह महसूस करने के लिए उसे पहले यह स्वीकार करना चाहिए कि सामाजिक हित का उस पर एक स्वतंत्र और प्रामाणिक दावा है। श्रेयस् वह है जो आकृष्ट करता है; किन्तु सही और उचित वह है जो बलपूर्वक यह दावा करता है कि प्रकृति हमें उसकी ओर आकृष्ट करे या न करे, हमें उसकी ओर आकृष्ट **होना चाहिए**।

यह सिद्धान्त इच्छा और उसकी परितुष्टि पर आधृत सिद्धान्त से उल्टा है, इसलिए यह उसके विचारों के क्रम को भी उल्टा कर देता है। उदाहरण के लिए यह सिद्धान्त अक्सर तर्क और तर्कसंगत विचारों पर बहुत बल देता है। किन्तु दोनों सिद्धान्तों में इन शब्दों के अर्थ एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इस नये सिद्धान्त में 'तर्क' का अर्थ इच्छा के सम्पूर्ण और दूरवर्ती परिणामों का बुद्धियुक्त अन्तर्बोध नहीं समझा जाता, बल्कि उसका अर्थ एक ऐसी शक्ति समझा जाता है जो इच्छा से उलटी है और जो आदेश जारी कर उसकी परितुष्टि पर प्रतिबन्ध लगाती है। इस सिद्धान्त में नैतिक विवेक या निर्णय का अर्थ दूरदर्शिता और व्यापक दृष्टि नहीं रहता, बल्कि एक मनःशक्ति हो जाता है जो हमें उचित का और कर्त्तव्य के दावों का बोध कराती है। इस किस्म के अनेक सिद्धान्तों में केवल यह कहकर ही सन्तोष नहीं कर लिया गया है कि उचित की अवधारणा श्रेयस् की अवधारणा से बिलकुल स्वतन्त्र है, बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि जो सही और उचित है वही नैतिक दृष्टि से श्रेयस् है और वह एक ऐसी चीज़ है जो समस्त प्राकृतिक इच्छाओं और उनकी परितुष्टियों से बिलकुल पृथक् है। इसलिए इन सिद्धान्तों की भी वही आलोचना की जा सकती है जो उन सिद्धान्तों की की जा चुकी है जो आचरण को नैतिक और नैतिकेतर, दो सर्वथा पृथक् क्षेत्रों में बाँटते हैं और जो तमाम प्राकृतिक अनुरागों और आवेगों को सन्देह की नजर से देखते हैं। फलतः हम यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि उचित की अवधारणा को मानवीय प्रकृति में अन्तर्निहित इच्छाओं और अनुरागों से उत्पन्न उद्देश्यों और मूल्यों से पृथक् किए विना भी स्पष्ट रखा जा सकता है।

**2. नैतिक दावों का मूलोद्गम**

जो माँगें और तकाजे हमसे किए जाते हैं उनके नैतिक प्रामाण्य के लिए क्या

हम कोई ऐसा स्थान निर्धारित कर सकते हैं, जो एक ओर तो निरे दबाव से यानी भौतिक और आर्थिक दबाव से बिलकुल पृथक् हो और दूसरी ओर कर्त्तव्य और औचित्य का कोई ऐसा नियम स्थापित न करता हो, जो हमारी मानवीय अन्तर्जगत् की प्राकृतिक इच्छाओं और प्रवृत्तियों से सर्वथा असम्बद्ध हो ? यह समस्या हमारे सामने विद्यमान है, क्योंकि उसका एक कारण यह है कि निरे दबाव का कोई नैतिक दावा नहीं है। यह हो सकता है, और होता भी है, कि लोग एक स्वैरिणी शक्ति के दावों के आगे इसलिए झुक जाएँ, क्योंकि यदि वे नहीं झुकेंगे तो उन्हें कष्ट उठाना पड़ेगा। किन्तु इस प्रकार का आत्मसमर्पण उनमें ग़ुलामों की-सी दुर्बलता पैदा कर देता है और जिनके हाथ में सत्ता और शक्ति है उनमें दूसरों के अधिकारों की उपेक्षा की वृत्ति पैदा करता है। इसका दूसरा कारण यह है कि जब हम यह कहते हैं कि कर्त्तव्य का एक ऐसा नियम और सिद्धान्त भी है, जिसका हमारे सामान्य आवेगों और प्रयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है और फिर भी वह उनसे ऊँचा है, तब हम मनुष्य को दो परस्पर असम्बद्ध हिस्सों में बाँट देते हैं।

इस दुविधा में से निकलने का उपाय यह है कि हम दावों के बल को भी एक ऐसी दुनिया में किसी भी अन्य वस्तु की भाँति स्वाभाविक मान लें, जहाँ मनुष्य एक-दूसरे से अलग होकर नहीं रहते, बल्कि निरन्तर एक-दूसरे से मिलकर और परस्पर कार्य करते हुए रहते हैं। यह हो सकता है कि किसी बच्चे से उसके माता-पिता ऐसी माँगें करें जिनमें सिर्फ उनकी मनमानी इच्छा और यह शक्ति ही अभिव्यक्त हो कि यदि बच्चा उनको पूरा नहीं करेगा तो कष्ट उठाना पड़ेगा। किन्तु बच्चे से जो माँगें या दावे किए जाते हैं, यह **आवश्यक** नहीं है कि वे मनमानी इच्छा से ही उद्भूत हों; हो सकता है कि वे माता-पिता और सन्तानों के बीच विद्यमान सम्बन्धों के आधार पर निर्मित पारिवारिक जीवन के ही स्वाभाविक परिणाम हों। उस दशा में बच्चा यह नहीं समझता कि उसे किसी बाहरी और स्वेच्छाचारी ताक़त का आदेश पालन करना पड़ रहा है, बल्कि वह यह समझता है कि वह एक ऐसे सम्पूर्ण की अभिव्यक्ति है जिसका वह स्वयं एक अंश है। अपने माता-पिता के प्रति प्रेम और उनके निर्णय और विवेक के प्रति आस्था उसे उनके आदेशों का पालन करने के लिए प्रेरित करती है। यदि उनका आदेश उसकी प्रमुख इच्छा के विपरीत होता है तो भी उसके प्रति उसकी अनुक्रिया ऐसी होती है, मानो वह आदेश उसके लिए सर्वथा पराया न हो। व्यक्तियों के एक-दूसरे के प्रति जो सहज सम्बन्ध होते हैं उनके कारण ही वे परस्पर एक-दूसरे से आशाएँ करते हैं और ऐसे कामों के दावे करते हैं जिनमें वे आशाएँ अभिव्यक्त होती हैं।

यह बात शायद तब और अधिक स्पष्ट हो जाएगी यदि हम यह मानकर चलें कि माँ-बाप पर भी कुछ दावे किए जाते हैं। हो सकता है कि बच्चा बिलकुल स्पष्ट रूप में ये दावे न करे, क्योंकि ये दावे उसके मन में चेतन रूप में उदित नहीं होते।

किन्तु जो माता-पिता अन्तर्भावनाशील होते हैं वे अनुभव करते हैं कि **माता-पिता और सन्तान के सम्बन्ध में** ये दावे अन्तर्निहित हैं ही। इस मानवीय सम्बन्ध के कारण माता-पिता का बच्चे के प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाता है, भले ही बच्चा अपने दावे किसी स्पष्ट माँग के रूप में प्रस्तुत न कर सके; बल्कि उसकी अपने दावे को अभिव्यक्त करने की अक्षमता इस कर्त्तव्य का और भी बड़ा कारण है। इसी प्रकार मित्रों का भी केवल पारस्परिक मित्रता के कारण ही एक-दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाता है। एक न्यायकारी राज्य के नागरिक भी व्यक्तिगत असुविधा के बावजूद राज्य के तकाज़ों को पूरा करते हैं; उसका कारण यह नहीं होता कि वैसा न करने पर राज्य उन पर शारीरिक या मानसिक दबाव डाल सकता है, बल्कि उसका कारण यह होता है कि वे एक संगठित और सुव्यवस्थित समाज के सदस्य हैं और इतने आन्तरिक भाव से उससे सम्बद्ध हैं कि उसके तकाज़े उनकी तात्कालिक वर्तमान इच्छा की परितुष्टि के प्रतिकूल होने पर भी उन्हें बाहरी दबाव नहीं मालूम होते। मित्रता के नाते किये गए दावे हमेशा आदमी को पसन्द नहीं आते; कभी-कभी वे अत्यन्त अप्रिय प्रतीत होते हैं, तो भी हम यह बात बिना हिचकिचाहट के कह सकते हैं कि जो व्यक्ति उन दावों को पूरा करने से सिर्फ इसलिए इन्कार करता है कि वे कष्टप्रद हैं, वह सच्चा मित्र नहीं है। यदि हम इस प्रकार के उदाहरणों का सामान्यीकरण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि अधिकार, क़ानून और कर्त्तव्य मानवों के पारस्परिक आन्तरिक सम्बन्धों के परिणाम हैं और उनका प्रेरक बल मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ बाँधनेवाले सम्बन्धों में ही स्वभावतः निहित है।

यदि हम उन सिद्धान्तों पर कुछ विस्तार से विचार करें जो नैतिक आप्तत्व और औचित्य को अन्य आधारों पर सिद्ध करते हैं, तो यह निष्कर्ष और भी पुष्ट हो जाएगा। इनमें से कुछ सिद्धान्तों में कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा ही इस नैतिक आप्तत्व का **आधार** है। दूसरे विचारक (हॉब्स आदि) ईश्वर के बजाय राज्य को इन नैतिक नियमों की प्रेरक शक्ति मानते हैं। काण्ट किसी भी बाहरी शक्ति को नैतिक नियमों की प्रेरक शक्ति मानने को तैयार नहीं था, इसलिए उसने कहा कि हर मनुष्य के भीतर एक व्यावहारिक तर्कबुद्धि रहती है और वही नैतिक नियमों की प्रेरक शक्ति है। किन्तु यह तर्क-बुद्धि उसके आवेगों और अनुरागों से बिलकुल भिन्न होती है और उसके मूल स्रोत भी उनके मूल स्रोतों से भिन्न होते हैं। इसी अन्तर्निहित विचार को आम प्रचलित भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य के भीतर दो प्रकृतियाँ होती हैं, एक आत्मिक और दूसरी मांसल और मनुष्य का मांस (अर्थात् शरीर) अधिकारतः आत्मा के नियमों के अधीन रहता है। इतिहास के दृष्टिकोण से यह स्मरणीय है कि यद्यपि श्रेयस् और नैतिक अन्तर्दृष्टि का विचार ग्रीक लोगों की देन है, तथापि क़ानून की प्रेरक

शक्ति को नैतिकता का केन्द्रीय विचार रोमन लोगों ने बनाया, जिनमें कि क़ानून और प्रशासन की प्रबल प्रतिभा थी। रोमन नीतिविदों और विधिवेत्ताओं ने जिन तीन सूत्रों में सारे नैतिक नियमों को आबद्ध किया वे सभी कर्त्तव्य के रूप में हैं।—हर व्यक्ति को उसका प्राप्य दो। जो कुछ तुम्हारा है उसका उपयोग इस ढंग से करो कि उससे दूसरे को पीड़ा न पहुँचे। **ईमानदारी से रहो**, अर्थात् इस ढंग से जीविन-यापन करो कि दूसरों से अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त कर सको। ये तीन सूत्र 'प्रकृति के नियम' के अनिवार्य तत्त्व कहे गए थे, और इस 'प्रकृति के नियम' के साथ अनुकूल होने के कारण ही मावीय प्रथाएँ और नियम उचित समझे जाते हैं।

### 3. काण्ट का सिद्धान्त

इसमें सन्देह नहीं कि आधिकारिक सत्ता और क़ानून की प्रधानता और नैतिक श्रेयस् की गौणता के विचार को सर्वाधिक और चरम तार्किक रूप काण्ट ने दिया है। 'श्रेयस्' को 'उचित' की तुलना में गौण मानने का विचार उसके इन शब्दों में निहित है : "अच्छे या बुरे का विचार नैतिक नियम से पहले नहीं, उसके बाद, बल्कि उसके द्वारा ही निर्धारित किया जाना चाहिए।" काण्ट यहीं नहीं रुकता। वह इच्छाओं को परितुष्ट करनेवाले मूल्यों और सच्चे नैतिक श्रेयस् के परस्पर-विरोध के विचार को, जिसका पिछले अध्याय में उल्लेख किया गया है, तार्किक चरम सीमा तक खींच ले जाता है। इच्छाओं के सिलसिले में वह सुखवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करता है। इच्छा के दृष्टिकोण से देखा जाए तो समस्त श्रेयस् सुख ही है, जो व्यक्तिगत और निजी है। जो व्यक्ति इच्छाओं को यहाँ तक कि दूसरों के प्रति प्रेम की इच्छाओं को भी अपने आचरण का निर्देशक बनने देता है, यह वास्तव में केवल **अपने निजी** श्रेयस् की, यानी अपने निजी सुख की ही खोज करता है। सभी इच्छाओं का प्रधान सिद्धान्त आत्म-प्रेम अर्थात् आत्म रक्षा की सहजवृत्ति का एक रूप है, जो काण्ट के अनुसार समस्त नैसर्गिक तृष्णाओं और आवेगों को शासित करता है। इस प्रकार नैतिक श्रेयस् न केवल सामान्य जीवन में मनुष्य द्वारा अनुभव किए जाने वाले प्राकृतिक श्रेयसों से भिन्न है, बल्कि वह उनके **विपरीत** भी है। नैतिक संघर्ष का सार तत्त्व यह है कि परितुष्टि की इच्छा के स्थान पर नैतिक नियम के सम्मान को प्रतिष्ठित किया जाए और उसे ही प्रधान सूत्र और आचरण का प्रेरक माना जाए। नैतिकता सिर्फ इसीलिए एक संघर्ष है कि लोगों की सामान्य प्रकृति तो अपनी इच्छाओं की परितुष्टि करने की होती है, किन्तु उनकी उच्चतर प्रकृति उनकी इस प्रवृत्ति पर पूरी रोक लगाती है।

काण्ट ने क़ानून और कर्त्तव्य की अवधारणा को सर्वाधिक प्रेरक और

प्रामाणिक मानने के विचार को इतनी तर्कसंगत रीति से व्यक्त किया है कि उसके विचार कुछ उदाहरणों के द्वारा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। प्राकृतिक आवेग एक माता को यह प्रेरणा देता है कि उसे अपने बच्चे की देख-भाल करनी चाहिए, किन्तु उसके आचरण का प्रेरक प्रयोजन **नैतिक दृष्टि से अच्छा** तभी होगा जबकि वह यह मानकर चले कि बच्चे की देख-भाल करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है और इस नैतिक नियम के प्रति आस्था के कारण ही वह ऐसा करे। काण्ट के इस विचार का यह कहकर मज़ाक उड़ाया गया है कि उसकी राय में माता को सच्चे अर्थों में नैतिक बनने के लिए अपने नैसर्गिक प्रेम को भी दबा देना चाहिए। किन्तु काण्ट का यह चरम अभिप्राय नहीं था। किन्तु यदि यह कहा जाए कि काण्ट के अनुसार माता-पिता को बच्चे के लालन-पालन के लिए केवल नैसर्गिक प्रेम को ही **प्रेरक शक्ति** नहीं बनने देना चाहिए, तो यह उसका उपहास करना नहीं होगा। जहाँ तक कि उसके कार्यों के प्रेरक स्रोत का सम्बन्ध है, उसे अपने काम को खूब समझ-बूझकर प्रधानतः अपने **कर्त्तव्य** के रूप में ही करना चाहिए और अपने प्रेम को **गौण** बना देना चाहिए। उसका कार्य नैतिक दृष्टि से इसलिए अच्छा नहीं है कि वह उसके प्रेम का परिणाम है, और न ही इसलिए अच्छा है कि उसका परिणाम बच्चे की भलाई होगा। एक दूसरा उदाहरण देखिए: किसी मुवक्किल की सेवा में लगा हुआ व्यक्ति या तो अपने पेशे में सफलता पाने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर काम करता है, या उसने अपने मुवक्किलों की यथासाध्य सेवा करने की जो आदत उपार्जित कर ली है, उससे प्रेरित होकर ऐसा करता है। किन्तु उसके काम नैतिक दृष्टि से अच्छे—यानी सन्तोषजनक नहीं, बल्कि **उचित**—तभी होंगे जबकि उसके आचरण को प्रभावित करने वाले प्रेरक प्रयोजन, जिनमें दूसरों की सेवा की इच्छा भी शामिल है, गौण हो जाएँ और नैतिक नियम के प्रति आदर का भाव प्रधान हो जाए। एक उदाहरण और लीजिए: एक व्यापारी अपने ग्राहकों को उचित वस्तु दे सकता है, उन्हें ईमानदारी से रेज़गारी लौटा सकता है और उत्साहपूर्वक उनकी सेवा कर सकता है, सिर्फ इसलिए कि वह इसे एक अच्छी नीति समझता है। वह यह सब इसलिए करता है कि वह उनकी नज़रों में पहला स्थान पा जाए, किन्तु **चाहिए** यह कि वह यह काम नैतिक कर्त्तव्य समझकर करे।

काण्ट के सिद्धान्त के एक पहलू पर आनुषंगिक रूप से पहले विचार किया जा चुका है। वह पहलू यह है कि प्रेरक प्रयोजन के रूप में इच्छा और परिणाम एक-दूसरे के विरोधी हैं और इनमें से प्रथम यानी इच्छा ही नैतिक दृष्टि से अच्छी हो सकती है। इसलिए यहाँ हम केवल उसी एक तत्त्व को लेंगे जो उसकी मान्यता का विशिष्ट तत्त्व है, अर्थात् उसकी यह धारणा कि क़ानून और कर्त्तव्य के प्रति आस्था ही किसी कार्य को **उचित सिद्ध करनेवाला** प्रेरक प्रयोजन हो सकती है। काण्ट के

अनुसार क़ानून अवश्य पालनीय है और अवश्य पालनीय आदेश पूर्ण और निरपेक्ष होता है—दूरदर्शिता और दक्षता से, जो केवल सोपाधिक होते हैं उसे अलग करने के लिए उसने उसे निष्काम नियोग का नाम दिया है। दूरदर्शितापूर्ण आदेश का रूप इस प्रकार होता है : **यदि** तुम अच्छी सेहत चाहते हो या अपने धन्धे में सफलता चाहते हो तो तुम्हें यह-यह काम **करना चाहिए**। किन्तु नैतिक आदेश कहता है : चाहे जैसे हो, तुम्हें कर्त्तव्य की भावना से काम **करना चाहिए**। काण्ट ने औचित्य का (श्रेयस् के प्रतियोगी के रूप में) और क़ानून और कर्त्तव्य का सिद्धान्त जिस चरम और तार्किक रूप में प्रस्तुत किया है वह उन सभी सिद्धान्तों की, जो उचित को इच्छाओं और अनुरागों की परितुष्टि से पूर्णतः अलग कर देते हैं, कठिनाई को उभार कर सामने रख देता है। काण्ट के सिद्धान्त में जो पारिभाषिक बारीकियाँ हैं, उन्हें यदि छोड़ दिया जाए तो वह कठिनाई इस प्रकार है : इच्छाएँ हमारे सामने जो परिणाम और उद्देश्य प्रस्तुत करती हैं उन्हें जब पूरी तरह अलग कर दिया जाता है तब ऐसी कौन-सी मूर्त्त और ठोस चीज़ रह जाती है जिसे कर्त्तव्य के विचार में शामिल किया जाए? मनुष्य चाहे जैसा आचरण क्यों नहीं अपना सकता, बशर्ते कि उसे यह यकीन हो जाए कि वही उसका कर्त्तव्य है? यदि वह एक बार यह अनुभव करले कि अमुक कार्य उसका कर्त्तव्य और नैतिक क़ानून उसे वैसा करने का आदेश देता है, तब परिणामों के विचार सिवाय और कौन-सी चीज़ है जो उसे घमण्डी और कठमुल्ला बनने एवं दूसरों के हितों की पूर्णतः उपेक्षा करने से रोक सकती है? प्रश्न को अधिक स्पष्ट और निश्चित भाषा में कहा जाए तो उसका यह रूप होगा कि कर्त्तव्य के सामान्य विचार से मनुष्य किसी खास काम या आचरण के बारे में यह निश्चय कैसे करेगा कि यह उसका कर्त्तव्य है?

काण्ट इस कठिनाई को स्वीकार करता है और उसका ख़याल है कि उसके पास इसका पर्याप्त उत्तर भी है। वह इस तथ्य को आँखों से ओझल नहीं करता कि कर्त्तव्य के विचार में सामान्यतः अपनी कोई निज की अन्तर्वस्तु नहीं है। उसके अनुसार हम यह नहीं जानते कि कोई विशिष्ट काम करना हमारा कर्त्तव्य है; हम इतना ही जानते हैं कि अपने आचरण में कर्त्तव्य के नियम को सर्वोच्च बनाना हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य है। वह यह स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि दावा भी करता है कि कर्त्तव्य का यह सामान्य नियम अपने-आपमें एक औपचारिक और खोखला नियम है; क्योंकि हरेक कर्त्तव्य पर जब अलग-अलग विचार किया जाएगा तब उसके परिणामों को सोचना होगा और इच्छाओं के साथ भी उसका सम्बन्ध होगा। ऐसी दशा में कर्त्तव्य के सामान्य नियम से यह निश्चय करने का मार्ग हमें कैसे मिलेगा कि अमुक खास उद्देश्य को पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है या नहीं?

इसका उत्तर उसने इस प्रकार दिया है : कर्त्तव्य की चेतना हम पर हमारे

नैतिक तर्क द्वारा थोपी जाती है। हम केवल नैसर्गिक क्षुधा और इच्छा तथा ऐन्द्रियिक संवेदन और स्वभाव से युक्त प्राणी ही नहीं हैं, बल्कि हमारे भीतर एक तार्किक मनःशक्ति है जो इच्छा और स्वभाव से ऊँची है। तर्क का मूल तत्त्व यहै है कि वह अपने-आपको सार्वत्रिक और आवश्यक भाषा में व्यक्त करता है। यह चरित्र लक्षण यह द्योतित करता है कि यह तर्क पूर्णतः आत्म-संगत और सार्वत्रिक है। यह एक समय एक बात और दूसरे समय दूसरी बात नहीं कहता। यह परिस्थितियों के साथ बदलता नहीं है। इसलिए किसी खास काम के बारे में यह जानने के लिए कि क्या वह हमारा कर्त्तव्य है, हमें अदने-आप से सिर्फ पूछना ही है कि क्या इस काम का प्रेरक प्रयोजन आत्म-विरोधी होने के बजाय सार्वत्रिक बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए :

> "संकट के समय क्या मैं इस इरादे से कोई वायदा कर सकता हूँ कि मैं उसे पूरा नहीं करूँगा ?...एक झूठा वायदा कर्त्तव्य के साथ संगत है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सबसे छोटा और सबसे सही रास्ता यह है कि मैं अपने-आपसे पूछूँ कि क्या मैं इस बात से सन्तोष कर लूँगा कि मेरा यह सिद्धान्त, कि संकट से बचने के लिए झूठा वायदा कर लेने में कोई बुराई नहीं है, न केवल मेरे लिए बल्कि सभी लोगों के लिए एक सामान्य नियम हो जाना चाहिए ? और क्या मैं अपने-आपसे यह कह सकता हूँ कि हर व्यक्ति किसी संकट से बचने के लिए निरुपाय होकर झूठा वायदा कर सकता है ? अपने-आपसे यह प्रश्न करने पर ही मैं व्यक्तिशः यह अनुभव करूँगा कि स्वयं झूठ बोलना चाहते हुए भी यह कभी नहीं चाहूँगा कि झूठ बोलना एक सार्वत्रिक नियम हो जाए। कारण, यह नियम सार्वत्रिक बन जाने पर संसार में वायदे जैसी कोई चीज़ रह ही नहीं जाएगी। उस हालत में कोई किसी के बताए हुए इरादे या वायदे पर विश्वास नहीं करेगा और यदि जल्दी में कर भी लेगा तो पहला मौका मिलते ही उसका बदला उसी की चाल से देगा।"

इस सिद्धान्त को यदि सार्वत्रिक बना दिया जाए तो वह सिर्फ आत्म-विरोधी ही होगा। इस प्रकार यह पता चलता है कि यह कोई सिद्धान्त ही नहीं है, कम-से-कम यह कोई तर्कसंगत सिद्धान्त नहीं है। इस सूत्र को यदि हम संक्षेप में कहें तो हमें सही काम के अपने पैमाने के रूप में यह सिद्धान्त प्राप्त होता है : "इस ढंग से काम करो जिससे कि जो काम तुम करते हो उसे तुम प्रकृति का सार्वत्रिक नियम भी बनाना चाहो।"

काण्ट के इस सूत्र के साथ तब तक न्याय नहीं किया जा सकता जब तक कि इस बात पर हम विचार न कर लें कि उसकी समूची विचार-प्रणाली में 'तर्क' का क्या स्थान है। किन्तु यह बात ज़रूर कही जा सकती है कि तर्क के सामान्य और

औपचारिक आदेश से जब हम किसी विशिष्ट कार्य के सम्बन्ध में इस निर्णय पर आते हैं कि वह कार्य उचित और कर्त्तव्य है या नहीं, तब तर्क की क्रिया के सम्बन्ध में हमारी धारणा अचेतन रूप से किन्तु पूर्णतः बदल जाती है। यह पूर्णतः सत्य है कि जब कोई व्यक्ति अपने किसी काम के प्रयोजन अथवा प्रेरक आधार पर इस ढंग से विचार करता है कि मानो वह काम अपने-आप में अकेला है और अनेक कार्यों की शृंखला के रूप में अनुबद्ध **आचरण** का अंग नहीं है, तब उसके काम में कोई तर्क संगतता नहीं होती। तब नियम का सिद्धान्त-जैसी कोई चीज नहीं रहती, क्योंकि विभिन्न कामों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। हर काम अपने-आप में एक अलग पूर्ण नियम होता है, जिसका अर्थ यह है कि कोई नियम होता ही नहीं। तर्क हमें इस निर्णय की ओर ले जाने के लिए यह प्रश्न उठाता है : क्या मैं हमेशा और हर परिस्थिति में इस उद्देश्य के लिए काम करना चाहूँगा ? क्या मैं यह चाहूँगा कि ऐसी ही परिस्थितियों में दूसरे भी मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव करें ? काण्ट की भाषा में यह तर्क इस प्रकार होगा : क्या मैं इस नियम को सार्वत्रिक बनाने के लिए तैयार हूँ या मैं कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में अपने लिए कुछ विशेष अपवाद चाहता हूँ ?

किन्तु यह कहना सही नहीं होगा कि इस विधि में परिणामों का किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया जाता, बल्कि वास्तव में इसमें परिणामों पर एक निष्पक्ष और सामान्य रूप में विचार किया जाता है। यह विधि यह नहीं कहती — परिणामों की कोई परवाह मत करो और अपने कर्त्तव्य का पालन किए जाओ, क्योंकि नैतिक नियम तर्क की आवाज़ के जरिए ऐसा करने का आदेश देता है। वह कहती है—इस ढंग से काम करने के परिणामों पर जितना व्यापक विचार कर सकते हो, करो; कल्पना करो कि यदि तुम और दूसरे व्यक्ति भी हमेशा उसी तरह अपने प्रयोजन की सिद्धि करें जिस तरह इस समय तुम्हारे मन में अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रलोभन उठ रहा है, तो क्या तुम उसे सहन करने को तैयार होगे। यदि तुम इस तरह सोचोगे तब उस क्षण तुम्हारे उस विशिष्ट प्रयोजन का असली स्वरूप तुम्हें ज्ञात हो जाएगा। तब तुम्हें अपने कर्त्तव्य का निश्चय करने में सहायता मिलेगी। और यदि कोई व्यक्ति विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचता है कि वह यह कभी पसन्द नहीं करेगा कि जैसा बर्ताव वह दूसरों के साथ करना चाहता है वैसा ही वे उसके साथ करें तब, अगर वह निष्पक्ष है (और आम बोल-चाल में निष्पक्षता और विवेकशीलता एक ही चीज़ है) तो, अवश्य ही वह यह जान जाएगा कि वह जो काम करना चाहता है वह ग़लत और बुरा है।

काण्ट ने जिसे सार्वत्रिकता कहा है उसका अर्थ औपचारिक रूप से सिद्धान्त पेश करते हुए उसने भले ही कुछ भी बताया हो, परन्तु वास्तव में उसका अर्थ सभी प्रकार के परिणामों की उपेक्षा करने के बजाय सामाजिक परिणामों पर ध्यान देना है। यह बात नैतिक नियम के सम्बन्ध में उसके द्वारा प्रस्तुत एक और सूत्र

से भी स्पष्ट होती है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार नैतिक या तर्क-संगत इच्छा अपने-आपमें एक उद्देश्य है, वह किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं है। सोचा जाए तो हर व्यक्ति भी अपने-आपमें एक उद्देश्य है। वास्तव में उसका यह 'उद्देश्य' होना ही उसे एक निरी 'चीज़' के बजाय एक 'व्यक्ति' बनाता है। वस्तुओं को हम साधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं ; भौतिक वस्तुओं और ऊर्जाओं को हम विशिष्ट प्रयोजनों के लिए साधन के तौर पर अपने वशवर्ती करते हैं; इसके उदाहरण हैं पत्थर, लकड़ी, ताप और बिजली। किन्तु जब हम किसी व्यक्ति को अपने उद्देश्यों के लिए साधन के तौर पर इस्तेमाल करते हैं तब हम उसके व्यक्तित्व को ही खंडित कर देते हैं; हम उसके साथ गुलाम की तरह बर्ताव करते हैं और उसे महज एक भौतिक वस्तु या घोड़ा और गाय आदि पालतू जानवर की स्थिति में डाल देते हैं। इसलिए नैतिक नियम का रूप यह होना चाहिए—"इस ढंग से काम करो कि तुम मानव को, चाहे वह स्वयं तुम हो या कोई और, एक उद्देश्य समझो, केवल साधन नहीं।" जो व्यक्ति किसी से झूठा वायदा करता है, वह उस दूसरे व्यक्ति को अपने निज के लाभ के लिए साधन के तौर पर इस्तेमाल करता है। जो व्यक्ति आत्महत्या का विचार करता है वह अपने भीतर विद्यमान व्यक्ति को कष्ट और दुःख से बचने का एक साधन-मात्र समझता है। यह दूसरा सूत्र इस तीसरे और अन्तिम सूत्र के समान है—सब मानव क्योंकि समान रूप से मानव हैं और हरेक का सबके आचरण पर कुछ दावा है, इसलिए कर्त्तव्य-पालन में तर्कसंगत आचरण को अपनाने का आदर्श हमारे सामने उद्देश्यों के एक राज्य का विचार उपस्थित करता है। नैतिक नियम का यह तकाजा है कि 'विभिन्न तर्कानुसारी प्राणी सर्वसामान्य नियमों की एक प्रणाली निर्धारित कर उससे अपने-आपको एकता के बन्धन में बाँधकर रखें।'

यदि हम इस निष्कर्ष को ध्यान में रखें और दूसरे लोगों के, जिनके साथ हम सामाजिक सम्बन्धों के बन्धन में बँधे हुए हैं, बारे में सोचें तो हम यह देख सकते हैं कि औचित्य और कर्त्तव्य की कल्पना श्रेयस् की कल्पना से किस दृष्टि से भिन्न है और फिर भी किस प्रकार दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं।

व्यक्तिगत श्रेयस् और दूसरों के श्रेयस् में संघर्ष होने पर बहुत-से लोगों में अपनी परितुष्टि को अधिक मूल्यवान समझने की प्रबल प्रवृत्ति होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे हम अपनी इच्छा के अनुकूल पाने के कारण श्रेयस्कर समझते हैं उसका जब ऐसी वस्तु के साथ संघर्ष होता है, जिसे हमारा अपना गहरा स्वार्थ न होने के कारण हम दूसरों के लिए श्रेयस्कर समझते हैं, तब गम्भीर नैतिक उलझनें पैदा हो जाती हैं। अपने-आपको दूसरे लोगों में से एक समझना और 'सागर तट पर पड़ा हुआ एकमात्र कंकड़' न मानना और इस अनुभूति को व्यवहार में भी लाना एक ऐसा पाठ है जो हमारे लिए शायद सबसे कठिन है। यदि दूसरे लोग

अपने दावे प्रस्तुत न करें और यदि ये आम दावे सामान्य सामाजिक आशाओं, माँगों और क़ानूनों के ताने-बाने में गुँथे हुए न हों, तब भी जो व्यक्ति अपनी इच्छाओं और प्रयोजनों से निर्धारित अपने श्रेयस् को सिर्फ उतना ही महत्त्व दे जितना कि दूसरों के श्रेयस् को देता है तो निश्चय ही वह असाधारण आदमी होगा। हमारी अपनी भलाई हमें तात्कालिक, अधिक आन्तरिक और निकटवर्ती प्रतीत होती है और यही कारण है कि हम दूसरों के कल्याण पर उचित ध्यान नहीं देते; दूसरों का हित हमें तुलना में हल्की, उपेक्षणीय और बहुत दूर की चीज़ प्रतीत होता है।

किन्तु यह कल्पना करना कि हम दूसरों से बिलकुल अलग हैं, तथ्य के विपरीत है। दूसरे लोग हमें एकदम अकेला नहीं छोड़ते। हममें से हरेक से वे जो माँगें करते हैं उसी के आधार पर वे अपनी श्रेयस् की कल्पना सक्रिय रूप से प्रकट करते हैं। वे लोग दूसरों से कहते हैं कि यदि वे उनकी आशाएँ पूरी कर दें तो वे उनकी सहायता और समर्थन करेंगे और साथ ही एक तरह से यह धमकी भी देते हैं कि यदि हमने अपने आचरण को नियन्त्रित करनेवाले प्रयोजन निर्धारित करते समय उनकी आशाओं को ध्यान में नहीं रखा तो वे अपनी सहायता वापस ले लेंगे और शायद उन्हें सज़ा भी दें और दूसरों की ये माँगें इतने विभिन्न बहुसंख्यक व्यक्तियों की कुछ विशिष्ट माँगें ही नहीं हैं। ये माँगें सामान्य नियमों में परिणत कर दी जाती हैं। उन्हें अलग-अलग व्यक्तियों के दावों के बजाय 'समाज' के स्थायी दावों का रूप दे दिया जाता है। जब उन पर दावों और आशाओं के रूप में विचार किया जाता है तब वे 'उचित' बन जाते हैं, जो श्रेयस् से भिन्न वस्तु है। किन्तु उनका अन्तिम कार्य और परिणाम व्यक्ति की श्रेयस् सम्बन्धी धारणा को अधिक व्यापक बनाना है। ये दावे और आशाएँ व्यक्ति को यह अनुभव करने के लिए प्रेरित करती हैं कि जो वस्तु दूसरों के लिए भी श्रेयस्कर नहीं है वह उसके लिए भी श्रेयस्कर नहीं है। वे एक प्रकार के उद्दीपन हैं जो मनुष्य को प्रेरणा देते हैं कि अपने लिए उद्देश्य निर्धारित करते और श्रेयस् का निश्चय करते हुए वह अधिक व्यापक परिणामों को दृष्टि में रखे।

यह निष्कर्ष 'उचित' की अवधारणा को एक स्वतन्त्र अस्तित्व और हैसियत प्रदान करता है, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर देता है कि अन्ततः नैतिक दृष्टि से यह अवधारणा श्रेयस् की अवधारणा से सम्बद्ध है। यह उचित को स्वेच्छ और औपचारिक बनने से और श्रेयस् को संकीर्ण और व्यक्तिगत बनने से रोकता है। किन्तु इससे भी सारी समस्या नहीं निबटती। विमर्शात्मक नैतिकता यह प्रश्न करती है—समाज, खासकर आधिकारिक सत्ताधारी व्यक्ति जो विशिष्ट दावे और माँगें पेश करते हैं, वे उचित हैं या नहीं? जिन मूर्त्त रूपों में ये दावे और आशाएँ हमारे सामने उपस्थित की जाती हैं, क्या उनमें वे की जानी चाहिएँ। उदाहरण के लिए माता-पिता या सरकारी अधिकारी द्वारा दिए जाने वाले किसी आदेश या निषेध

में और अधिकार की सामान्य धारणा में, जिस पर आधारित होने का वह दावा करता है, क्या सम्बन्ध है ? उसका नैतिक औचित्य क्या है ?

### 4. दावे का औचित्य

उपर्युक्त प्रश्न विशुद्ध अनुमानाश्रित प्रश्न नहीं है। परिवार में बच्चे और राज्य में नागरिक और समूह यह अनुभव कर सकते हैं कि उनसे सामाजिक रूप में जो माँगें की जाती हैं, वे मनमानी हैं और उनके पीछे कोई सच्ची नैतिक प्रामाणिक शक्ति नहीं है। वे यह अनुभव कर सकते हैं कि वर्तमान नियम पुरानी रूढ़ियों से उत्पन्न हुए हैं जो अब पुरानी पड़ गई हैं या उनके पीछे वर्तमान सत्तारूढ़ व्यक्तियों की शक्ति है, किसी नैतिक आदर्श की शक्ति नहीं है। हो सकता है कि किसी माता-पिता, अध्यापक या किसी शासक के इस आदेश पर कि 'यह करो', विचार करने पर हमें यह मालूम हो कि उसका यह आदेश उसके अपने आवेग की अथवा अपनी निज की सत्ता और विशेषाधिकार में उसकी व्यक्तिगत दिलचस्पी की अभिव्यक्ति हो, यानी वह एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो किसी नैतिक सिद्धान्त से समर्थित नहीं है, बल्कि उसकी अपनी ऊँची स्थिति से समर्थित है। आम तौर पर आदेश का पालन पुरस्कार के प्रलोभन या दंड के भय से, वायदों और धमकियों से कराया जाता है अर्थात् ऐसी चीज़ों से जिन्हें नैतिकता के सिद्धान्त में समर्थन (सैंक्शन) कहा जाता है। और यदि किसी क़ानून के पालन और कर्त्तव्य के आदर के लिए अन्तिम 'तर्क' सिर्फ यह है कि उसके पालन से पुरस्कार मिलेगा और पालन न करने से दंड, तो उसका अर्थ यह है कि 'औचित्य' व्यक्तिगत परितुष्टि के सुखवादी उद्देश्य की पूर्ति के एक परोक्ष उपाय के सिवाय और कुछ नहीं है। नैतिकता उस दशा में पराधीन हो जाती है। हो सकता है कि जो व्यक्ति आज्ञा-पालन कर रहा है वह सिर्फ भय की स्थिति में हो। इसके अलावा यह स्थिति मनुष्य को एक प्रकार के चतुर पाखण्ड की ओर ले जाती है। वह इतना चतुर हो सकता है कि वह करे तो मनमानी, किन्तु दिखावा ऐसा करे कि वह अधिकारी सत्ता के प्रति वफ़ादार है।

यही बात उस समय भी सामने आती है जबकि स्थिति पर विपरीत दिशा से विचार किया जाता है। राजनीतिक जीवन के एक विचक्षण प्रेक्षक का कहना है कि सत्ता विष है। कोई भी सत्तारूढ़ व्यक्ति इस धारणा से बच नहीं सकता कि जब तक उसमें अपनी माँग को पूरा कराने की शक्ति है, तब तक वह जो कुछ चाहता है वही सही और उचित है। चाहे उसमें कितनी भी प्रबल इच्छाशक्ति हो तो भी इस बात की सम्भावना है कि न चाहते हुए भी वह दूसरों की वास्तविक आवश्यकताओं से अलग-थलग हो जाए और इस प्रकार उसकी स्वार्थी-वृत्ति से जो ख़तरे पैदा होंगे उनमें उसके अज्ञान से उत्पन्न ख़तरे भी जुड़ जाएँगे। इतिहास यह

बताता है कि निजी विशेषाधिकार को आम तौर पर गलती से आधिकारिक स्थिति मानने की प्रवृत्ति रहती है। राजनीतिक मुक्ति के लिए किये गए संघर्षों का इतिहास मुख्यत: उन अत्याचारों से मुक्ति पाने के प्रयत्नों का इतिहास है जो क़ानून और अधिकारी सत्ता के नाम पर किये गए थे, परन्तु वास्तव में जिनके पीछे यह धारणा थी कि कोई व्यक्ति वफ़ादार तभी माना जा सकता है जबकि वह पूरी तरह गुलाम बन जाए। कथित नैतिक आधिकारिक सत्ता या नैतिक प्रामाण्य एक अल्पसंख्यक वर्ग में केन्द्रित कर दिए जाने का नतीजा यह हुआ है कि शेष बहुसंख्यक वर्ग में उतनी ही मात्रा में विवेक और उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति क्षीण हो गई है। इस प्रकार 'नैतिकता' का अर्थ केवल आदेशों का पालन ही रह गया है।

इस विचार-विवेचन से एक अन्तर्निहित समस्या प्रकाश में आती है। नैतिक प्रामाण्य या आप्तत्व का वास्तविक रूप क्या है? वह क्या चीज़ है जो उसे अभ्यास-जनित रूढ़ि या सत्ताजन्य आदेश से पृथक् करती है? जैसाकि हमने देखा है, यह समस्या महज़ सैद्धान्तिक ही नहीं है, इसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। सत्तारूढ़ व्यक्ति, अधिकारी और प्रशासक निरन्तर इस धारणा के प्रलोभन के शिकार रहते हैं कि कानून अपने-आपमें उद्देश्य है और यह सोचते हैं कि नियम और विनियम जारी कर देने और उनका पालन करा लेने से ही 'उचित वस्तु' सुरक्षित हो जाती है। यदि शासन एक व्यक्ति के बजाय जनता के हाथ में हो, जैसाकि लोकतन्त्र में होता है, तो भी यह ख़तरा बना ही रहता है। क्या यह उक्ति प्रचलित नहीं है कि '**जनता की आवाज़ ही ईश्वर की आवाज है**।' यह पाठ सीखना आसान नहीं है कि क़ानून आदमी के लिए है, न कि आदमी क़ानून के लिए। साथ ही जब स्वेच्छा-चारी और अत्याचारी प्रतीत होनेवाली अधिकारी सत्ता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के तौर पर लोग व्यक्तिगत क्षुधा और आवेग की अराजकता का आश्रय लेने लगते हैं तब भी कठिनाई कम नहीं होती।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह मान लेने पर भी कि औचित्य का विचार एक स्वतन्त्र नैतिक अवधारणा है, यह समस्या हल नहीं होती कि किसी स्थिति-विशेष में उचित **क्या** है। कानून या विधिसम्मतता **हर** कानून की विशेषता नहीं हैं। कानून इसलिए आवश्यक है कि लोग कुछ सामाजिक सम्बन्धों में पैदा होते और जीते हैं; **किसी भी** क़ानून पर कभी भी आपत्ति की जा सकती है क्योंकि वह सामान्य रूप से क़ानून के कार्य को पूरा कराने के लिए एक विशेष साधन है और सामान्य रूप से क़ानून का अभिप्राय मानवों के उन पारस्परिक सम्बन्धों से है, जो सबके कल्याण और स्वतन्त्रता को समुन्नत करते हैं।

व्यक्ति अन्योन्य-निर्भर होते हैं। हर व्यक्ति किसी-न-किसी पर निर्भर होकर ही पैदा होता है। यदि उसे दूसरों से सहायता और पालन-पोषण न मिले तो वह नष्ट हो जाएगा। उसके बौद्धिक और शारीरिक पोषण के लिए सामग्री दूसरों से

प्राप्त होती है। जब वह परिपक्व हो जाता है तब वह आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से अधिक स्वतन्त्र हो जाता है; किन्तु वह अपने धन्धे को दूसरों के सहयोग और प्रतिस्पर्धा के ज़रिए ही चला सकता है; उसकी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं, जो सेवाओं और वस्तुओं के आदान-प्रदान से ही सन्तुष्ट हो सकती हैं। उसके मनोविनोद और उसकी उपलब्धियाँ दूसरों के साथ हिस्सा बँटाने पर निर्भर हैं। यह विचार कि व्यक्ति एक-दूसरे से पृथक् और अलग-अलग पैदा होते हैं और किसी कृत्रिम साधन से एक समाज में परिणत हो जाते हैं, एक विशुद्ध कल्पना-मात्र है। सामाजिक बन्धन और सम्बन्ध भी उतने ही स्वाभाविक और अनिवार्य हैं जितने कि भौतिक। मनुष्य जब अकेला होता है तब भी वह एक ऐसी भाषा के ज़रिये सोचता है, जो दूसरों के साथ सम्बन्ध से बनती है और ऐसे प्रश्नों और विषयों पर विचार करता है जो दूसरों के साथ सम्बन्ध से पैदा होते हैं। चरित्र और विवेक की स्वतन्त्रता गर्व की वस्तु है, किन्तु यह स्वतंन्त्रता पृथकता को द्योतित नहीं करती, वह एक ऐसी वस्तु है जो दूसरों के साथ सम्बन्ध में प्रदर्शित की जाती है। उदाहरण के लिए स्वतन्त्र विश्लेषण, विमर्श और अन्तर्दृष्टि सच्चे वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारक से बढ़कर और किसके गुण हो सकते हैं। किन्तु यदि वैज्ञानिक या दार्शनिक सुदीर्घ परम्परा से उत्पन्न समस्याओं पर विचार न करे और अपने निष्कर्ष दूसरों को बताकर उन पर उनकी सहमति पाने या उनके विचारों से उनमें संशोधन करने का यत्न न करे तो उसकी स्वतन्त्रता सिर्फ एक निरर्थक पागलपन रह जाएगी। इस प्रकार के तथ्य बहुत सुपरिचित और आमफहम हैं। किन्तु उनके इस अर्थ को हमेशा उतने सुनिश्चित रूप में ग्रहण नहीं किया जाता कि मानव प्राणी दूसरों की वजह से और उनकी अपेक्षा से ही व्यक्ति है। अन्यथा उसका एक पृथक् व्यक्ति होना ऐसा ही है जैसे एक लकड़ी, जो देश (स्पेस) और संख्या की दृष्टि से दूसरों के साथ बिना किसी सम्बन्ध के एक पृथक् वस्तु के रूप में विद्यमान है।

इनमें से बहुत-से सम्बन्ध स्थायी होते हैं और उनकी पुनः-पुनः आवृत्ति होती रहती है। उदाहरण के लिए बच्चे और माता-पिता का सम्बन्ध अनेक वर्षों तक रहता है, जिससे बच्चे का यह दावा बन जाता है कि उसकी रक्षा और पालन-पोषण किया जाए और माता-पिता का यह दावा हो जाता है कि बच्चा उनकी ओर ध्यान दे, उनका आदर करे और उनके प्रति प्रेम रखे। जो कर्त्तव्य इन सम्बन्धों को प्रकट करते हैं, वे स्थिति के साथ आन्तरिक भाव से जुड़े होते हैं, बाहर से थोपे नहीं जाते। जो व्यक्ति माता या पिता बनता है वह उस तथ्य के कारण ही कुछ उत्तर-दायित्वों का वहन करता है। यदि वह उन्हें बोझ समझे और उनसे बचने का प्रयत्न करे तो भी वह एक ऐसी वस्तु से परे भागता है जो उसका अपना अंग है, किसी बाहरी शक्ति से थोपी गई वस्तु नहीं है। हमारे साधारण क़ानून में स्वीकृत किये गए अनेक कर्त्तव्य ऐसे सम्बन्धों से पैदा होते हैं जो मनुष्यों के आपसी आर्थिक सम्बन्धों

में काफी हद तक निरन्तर पैदा होते रहते हैं; उदाहरण के लिए मकान मालिक और किरायेदार का सम्बन्ध, विक्रेता और खरीदार का सम्बन्ध, मालिक और नौकर का सम्बन्ध, ट्रस्टी और ट्रस्ट से लाभ उठानेवाले का सम्बन्ध। किन्तु इस तथ्य से यह अर्थ नहीं निकलता कि इन सम्बन्धों को प्रकट करने वाले कर्त्तव्य हमेशा वैसे ही होते हैं जैसेकि होने चाहिए। हो सकता है कि ये सम्बन्ध पारस्परिक होने के बजाय एकतरफ़ा ही हों। किन्तु इसका इलाज यह नहीं है कि इन कर्त्तव्यों का ही अन्त कर दिया जाए, बल्कि यह है कि इन सम्बन्धों के स्वरूप में परिवर्तन किया जाए।

ऐसी दशा में यह हो सकता है कि कोई खास औचित्य या कर्त्तव्य मनमाना हो किन्तु औचित्य और कर्त्तव्य के अस्तित्व में कुछ भी मनमाना या जबरन नहीं है। रोमन लोग कर्त्तव्य को **पद से प्राप्त कार्य** (ऑफिस) कहा करते थे। पद से प्राप्त कार्य का अर्थ ऐसा काम है, जिसका कोई प्रतिनिध्यात्मक मूल्य हो; अर्थात् जो अपने-आपसे बड़ी किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व करता हो। मनुष्य बच्चों पर कर्त्तव्य माता-पिता की हैसियत से थोपता है, न कि एक व्यक्ति की हैसियत से। ये कर्त्तव्य मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा से उद्भूत नहीं होते, बल्कि उन कार्यों से उद्भूत होते हैं जिन्हें माता-पिता करते हैं। जब ये कर्त्तव्य मनुष्यों को परस्पर एकता के बन्धन में बाँधनेवाले बन्धनों से उद्भूत होने के बजाय केवल एक इच्छा के विरुद्ध दूसरी इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे स्वयं अपने आधार का ही उल्लंघन करते हैं। उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में, जो आम तौर पर अधिकारी कहे जाते हैं, स्थिति अधिक स्पष्ट है। विधि-निर्माता, न्यायाधीश, असेसर या शेरिफ अपने अधिकार का उपयोग एक व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में नहीं करता, बल्कि ऐसे सम्बन्धों के प्रतिनिधि के रूप में करता है, जिसमें बहुत-से लोग हिस्सेदार हैं। वह हितों और प्रयोजनों की एकता का एक प्रतिनिधि होता है। इसलिए सिद्धान्ततः औचित्य का अर्थ वह तरीका है जिससे आन्तरिक सम्बन्धों से परस्पर बँधे हुए बहुत-से लोगों की भलाई एक समाज के सदस्यों के नियमन के लिए लाभकारी सिद्ध होती है।

किन्तु औचित्य के विचार या सिद्धान्त का आधार इतना स्वाभाविक होने और उसके द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका के इतनी महत्त्वपूर्ण होने का अर्थ यह नहीं है कि एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य जिसे अपना श्रेयस् और उद्देश्य समझता है उससे उसकी कोई टक्कर नहीं होगी और न उससे यही गारंटी की जा सकती है कि अधिकार के नाम पर उससे जो दावे या माँगें की जाती हैं वे वास्तव में उचित ही होंगी। इसके विपरीत यह हो सकता है कि एक समाज का प्रतिनिधि होने के नाते मनुष्य को जो अधिकार और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उसे वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के साधन, अपने व्यक्तिगत सुखोपभोग में वृद्धि और अपने निजी लाभों को बढ़ाने में उपयोग कर सकता है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने मातृपद या पितृपद को नीचे गिराकर उसे अपने निज के आराम को बढ़ाने, अपनी मनमानी

इच्छाओं को प्रदर्शित करने और दूसरों पर अधिकार जताने की अपनी आकांक्षा को परितुष्ट करने के साधन में परिणत कर दे। इस प्रकार का आचरण **बेवफ़ाई** है, किन्तु दुर्भाग्य से इस प्रकार की बेवफ़ाई एक आम घटना बन गई है। यह बुराई और अधिक फैलती है और उसका परिणाम यह होता है कि सभी प्रकार की अधिकारी सत्ता के विरुद्ध रोष पैदा होता है और यह भावना उत्पन्न होती है कि सभी कर्त्तव्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं और ऊँची सत्ता मनमाने तौर पर उन्हें हम पर थोपती है।

यह संघर्ष क़ानून के अर्थ की व्याख्या पर भी असर डालता है। एक ओर क़ानून का अर्थ निकृष्ट और पराधीन इच्छाओंवाले व्यक्तियों की इच्छाओं की तुलना में उच्चतर इच्छा की अभिव्यक्ति समझा जाता है। दूसरी ओर उसे एक ऐसी अवैयक्तिक और स्वतन्त्र वस्तु समझा जाता है जो समस्त मानवी इच्छाओं से ऊपर है। काण्ट ने एक तरह से नैतिक नियम की यही परिभाषा की, हालाँकि उसने उसे तर्क-संगत इच्छा का नाम दिया। नियम या क़ानून को मानवीय सम्बन्धों द्वारा सिद्ध किये जाने वाले उद्देश्य या श्रेयस् की अभिव्यक्ति मानने के बजाय एक ऐसी वस्तु मानने की, जो समस्त मानवीय नियमों से ऊपर है, प्रवृत्ति पैदा हो गई है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रवृत्ति का एक आंशिक कारण यह अनुभूति है कि मानवीय सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं और दूसरा यह कि मनुष्य कोई स्थायी और सतत स्थिर रहनेवाली वस्तु चाहता है। जब हम क़ानून के 'गौरव' और 'उच्चता' की बात करते हैं तब उसमें यह भाव निहित रहता है। किन्तु यदि इस विश्वास के अनुसार आचरण किया जाता है, तब उसका तर्कसंगत परिणाम और क्रियात्मक प्रभाव यह होगा कि नैतिक नियम अधिक कठोर हो जाएँगे, क्योंकि इस आचरण में क़ानून और कर्त्तव्य एवं श्रेयस् की प्राप्ति के बीच सम्बन्धों की उपेक्षा कर दी जाती है। यह विश्वास मनुष्यों की विशाल संख्या को उन लोगों की इच्छाओं के अधीन कर देता है जिनमें अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना क़ानून घोषित करने और उसे लागू करने की शक्ति है।

इस सारे विवेचन का परिणाम यह है कि यद्यपि मानवीय सम्बन्धों के साथ लगे हुए सामाजिक दावों के कारण सामान्य रूप में अधिकार की एक स्वतंत्र सत्ता है तो भी किसी भी **विशिष्ट** दावे की आवश्यकतानुसार परीक्षा और आलोचना की जा सकती है। यह जाँच की जा सकती है कि क्या उसे यह दावा करने का अधिकार है कि वह सही है? क्या वह सचमुच उचित है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए और आलोचना में विवेक का पथ-प्रदर्शन करने के लिए विशिष्ट क़ानूनों और कर्त्तव्यों के औचित्य के लिए कोई कसौटी निर्धारित करनी होगी। अधिकार जो दावा प्रस्तुत करता है उसका सार यह है कि जिस व्यक्ति से वह दावा किया गया है, उसे उस दावे के अनुसार लिया गया काम अपने लिए श्रेयस्कर न प्रतीत हो तो भी

उसे श्रेयस्कर मान लेना **चाहिए**; दूसरे शब्दों में, यदि वह उस समय उसे श्रेयस्कर नहीं समझता तब भी वह उसके लिए श्रेयस्कर **बन जाना** चाहिए। यह 'चाहिए' का तत्त्व ही औचित्य और श्रेयस् के विचारों में भेद करता है। किन्तु यह औचित्य के विचार को श्रेयस् के विचार से पूर्णतः अलग नहीं करता। कारण, जब हम किसी वस्तु के बारे में यह कहते हैं कि 'ऐसा होना चाहिए' तब उसका अर्थ यह होता है कि एक व्यक्ति को उस आचरण को श्रेयस्कर **मानना** चाहिए। जो वस्तु इस समय श्रेयस्कर नहीं समझी जाती किन्तु फिर भी जिसे श्रेयस्कर समझा जाना **चाहिए** उसमें दीख पड़ने वाले आत्म-विरोध का समाधान उस कसौटी की ओर संकेत करता है जिसकी हम खोज कर रहे हैं। वह कसौटी यह है कि जो आचरण अवश्य पालनीय बताया जाता है, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसे नैतिक नियमों का समर्थन प्राप्त है, क्या वह सचमुच उस श्रेयस् में योग देगा जिसमें वह व्यक्ति भी **साझेदार** हो, जिससे उस आचरण के पालन के लिए कहा जाता है? जिस व्यक्ति पर कोई कर्त्तव्य आयद होता है, वह स्वयं दूसरों से दावे करने लगता है। वह दूसरों से लाभ पाने की आशा करता है। जो कर्त्तव्य उसे दूसरों के प्रति पालन करने चाहिएँ, उन्हें वह स्वयं अपने उद्देश्यों की सिद्धि और अपने वांछित मूल्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों पर लाद देता है। ऐसी दशा में यदि वह दावा वैसा ही है जैसाकि वह दूसरों से करता है, यदि उससे वैसे ही श्रेयस् की सिद्धि होती है जिसे वह अपने लिए अच्छा समझता है, तो जिस हद तक वह व्यक्ति इन्साफपसन्द होगा उस हद तक वह यह स्वीकार करेगा कि यह सर्वसामान्य श्रेयस् है, इसलिए वह उसके विवेक और कार्य पर भी लागू होना चाहिए।

यदि हम अपने-आपसे यह प्रश्न करें कि कोई काम ग़लत किस कारण से होता है तब यह बात शायद सबसे अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने आ जाएगी। हमारे सिद्धान्त ने हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया है कि कोई भी चयन या कार्य **सिर्फ** इसलिए ग़लत नहीं होता कि वह वर्तमान क़ानूनों के साथ मेल नहीं खाता या कर्त्तव्यों के रूढ़िगत नियमों के साथ उसकी संगति नहीं है। कारण, ये क़ानून और रूढ़ियाँ ग़लत हो सकती हैं और यह सम्भव है कि उनका अनुपालन करने से इन्कार करने में औचित्य उसके साथ हो। एक युग में जिन लोगों को नैतिक विद्रोही कहकर उत्पीड़ित किया जाता रहा है, दूसरे युग में वही नैतिक वीर कहकर पूजे गए हैं। बच्चे उन्हीं लोगों के स्मारक बनाते हैं जिन्हें उनके पिताओं ने पत्थर मारे थे। किन्तु इस तथ्य से हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि व्यक्तिगत आत्मनिष्ठ सम्मति के सिवाय, जिसे कभी-कभी ग़लती से निजी अन्तःकरण कह दिया जाता है, सही और ग़लत की कोई कसौटी है ही नहीं। कोई आदमी तब तक चोरी नहीं करेगा जब तक कि वह सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं समझता; यहाँ तक कि चोर भी स्वयं दूसरों से चुराई हुई वस्तु उससे छीनी जाने पर आपत्ति

करता है। यदि सदाशयता-जैसी कोई चीज़ नहीं है तो धोखा जैसी कोई चीज़ भी नहीं हो सकती। बुरा काम करनेवाला दूसरों की सदायशता और ईमानदारी पर भरोसा करके चलता है; अन्यथा इन बन्धनों का उल्लंघन करने में उसे कोई लाभ नज़र नहीं आता। ग़लत काम करनेवाला जब यह निर्णय करता है कि उसके लिए श्रेयस्कर क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, तब वह जिस पर भरोसा करता है उसके प्रति उसका अविश्वास करना ही ग़लती है। ऐसा करके वह उन सिद्धान्तों के प्रति द्रोह करता है जिन पर वह निर्भर करता है। दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में वह जिन मूल्यों को अंगीकार करने से इन्कार करता है, उन्हीं का वह अपने लाभ के लिए उपयोग करता है। हालाँकि काण्ट यह कहता कि इस प्रकार का व्यक्ति तर्क के किसी अमूर्त्त क़ानून का खंडन करता है, किन्तु वास्तव में वह अपने लिए श्रेयस्कर समझे जाने वाले उद्देश्यों से दूसरों को वंचित करते समय पारस्परिक आदान-प्रदान के सिद्धान्त का खंडन करता है। नैतिक रूढ़िवादी इस सम्बन्ध में यह तर्क देता है कि जब वह किसी विशेष दावे के औचित्य को अस्वीकार करता है तब ऐसा वह अपने किसी व्यक्तिगत उद्देश्य के लिए नहीं करता, बल्कि एक ऐसे उद्देश्य की ख़ातिर करता है, जो सभी के कल्याण को अधिक मात्रा में और अधिक संगत रूप में समुन्नत करेगा। लेकिन यह सिद्ध करने का दायित्व उसी पर है। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के अपने निर्णय को उचित बताते हुए वह प्रकारान्तर से एक सामाजिक दावा प्रस्तुत करता है; यह सामाजिक दावा एक ऐसी वस्तु है जिसकी दूसरों द्वारा और अधिक परीक्षा और पुष्टि की जानी चाहिए। इस प्रकार वह यह स्वीकार करता है कि जो दावा वह करता है, उसके परिणाम उसे भुगतने होंगे; इसलिए वह दूसरों को अपनी बात समझाने के लिए धैर्य और खुशी से प्रयत्न करेगा।

यदि नैतिक रूढ़ि-भंजकों से यह आशा की जाती है कि उनमें धैर्य, प्रसन्नता, निरभिमानिता, आत्म-प्रदर्शन और आत्मानुकम्पा होनी चाहिए तो स्वभावतः रूढ़िवादी के लिए भी एक कर्त्तव्य पालनीय है और वह है सहिष्णुता का कर्त्तव्य। इतिहास बताता है कि कितनी अधिक नैतिक उन्नति उन लोगों के कारण हुई जो अपने ज़माने में विद्रोही और अपराधी माने गए। विमर्शात्मक नैतिकता की जान विचार-विमर्श है और विचार-विमर्श में निश्चय ही कुछ ऐसे सिद्धान्तों की आलोचना होगी जो आम तौर पर लोगों द्वारा स्वीकार किए जाते हैं और कुछ ऐसी चीज़ों के, जो सही समझी जाती हैं, परिवर्तन के सुझाव सामने आएँगे। इस प्रकार सहिष्णुता का अर्थ केवल सद्भावनापूर्ण उदासीनता ही नहीं है; बल्कि उसका अर्थ यह है कि मनुष्य इस विश्वास के साथ विचार-विमर्श और परीक्षा की अनुमति देने के लिए तैयार रहे कि जो वस्तु सचमुच सही है वह विचार-विनिमय और जाँच-पड़ताल से और अधिक सुरक्षित हो जाएगी और जो वस्तु सिर्फ रूढ़ि के कारण टिकी हुई है या तो उसमें सुधार हो जाएगा या उसे छाँटकर अलग कर दिया जाएगा।

नैतिक निर्णय और विवेक में मतभेद को सहन कर लेना एक ऐसा गुण है, जिसे कर्त्तव्य पर बहुत अधिक ज़ोर देने वाले भी सीख नहीं पाते। जैसे ही हम जाँच-पड़ताल और सार्वजनिक विचार-विनिमय के एक दुश्मन पर विजय पाते हैं, वैसे ही दूसरे दुश्मन विचार पर प्रतिबन्ध लगाने और उसका दमन करने के लिए नये-नये तर्काभास लेकर उठ खड़े होते हैं। और फिर भी विचारों के चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के बिना नैतिक प्रगति केवल संयोगवश या गुप्त रूप से ही होती है। मानव समाज आज भी सब मिलाकर शक्ति पर भरोसा करना पसन्द करता है, भले ही आज वह पहले की भाँति प्रत्यक्ष और शारीरिक रूप में प्रयोग में नहीं लाई जाती, बल्कि परोक्ष और प्रच्छन्न रूप से प्रयुक्त की जाती है। वह सत्य को खोजने और उसे पकड़ने के लिए बुद्धि पर उतना भरोसा नहीं करता।

### 5. कर्त्तव्य की भावना

जिस सामान्यीकृत रूप में लोगों से माँगें की जाती हैं, उसके अनुरूप ही कर्त्तव्य की एक सामान्यीकृत भावना भी पैदा होती है—यानी यह भावना कि जो उचित है उसके साथ हम इसलिए बँधे हुए हैं कि वह उचित है। प्रारम्भ में कर्त्तव्य विशिष्ट सम्बन्धों के साथ जोड़े जाते हैं, जैसेकि बच्चे के माता-पिता, भाइयों और बहनों के साथ सम्बन्ध। किन्तु जैसे-जैसे नैतिक परिपक्वता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कर्त्तव्य की एक निरपेक्ष भावना बढ़ती जाती है जिसका किसी विशिष्ट स्थिति के साथ सम्बन्ध नहीं होता। यह ठीक है कि एक विशिष्ट स्थिति की बार-बार आवृत्ति होने से एक सामान्य संकल्पना बन जाती है, किन्तु यह संकल्पना इस आवृत्ति का निष्कर्ष मात्र नहीं होती, बल्कि वह और अधिक विशिष्ट स्थितियों के प्रति एक नया रवैया भी होती है। एक व्यक्ति बहुत-सी तरह-तरह की चीज़ों को एक के बाद एक शृंखला में इस तरह से जोड़ सकता है, मानो वे मेज़ें हों। जब एक मेज़ की सामान्य कल्पना उसके मन में बन जाती है तब उसे कार्य का एक **सिद्धान्त** मिल जाता है। वह अपने विचार को एक ऐसे आदर्श में परिणत कर सकता है जिससे कि वह मौजूदा मेज़ों की आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा करे और उसके आधार पर परिवर्तित परिस्थितियों में एक नई मेज़ का आविष्कार कर सके। यह हो सकता है कि एक आदमी हज़ारों बार आग ताप चुका हो और फिर भी उसे यह ख़याल आए ही नहीं कि जाड़ा लगने पर उसे आग **जला** लेनी चाहिए। लेकिन जब उसे आग की एक सामान्यीकृत कल्पना हो जाएगी तब वह कल्पना किसी विशिष्ट परिस्थिति से बँधी हुई नहीं होगी, और उसे आग न होने पर भी आग जलाने के लिए प्रयोग में लाया जा सकेगा। इसी प्रकार जिसे कर्त्तव्य की एक सामान्य अवधारणा होगी, उसका एक नया रवैया बन जाएगा। वह ऐसी परिस्थितियों की खोज में रहेगा जिनमें उसकी वह अवधारणा लागू की जा सकती है। उसके

पास एक आदर्श या पैमाना होगा जिसे इस्तेमाल करने के लिए वह विशिष्ट परिस्थितियों और उदाहरणों को अपने सामने लाएगा।

सामान्यीकृत विचार आचरण के निर्देशन और विस्तारण के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु साथ ही वे ख़तरनाक भी हैं। किसी विशिष्ट मामले की ओर संकेत के अलावा उनमें अपने-आपमें एक निश्चित वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित होने की प्रवृत्ति रहती है। 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' की अवधारणा विकसित होने पर भी यही स्थिति होती है। इस स्थिति में कर्त्तव्य की धारणा विशिष्ट परिस्थितियों की माँगों से अलग कर दी जाती है और एक प्रतीक बन जाती है। उस दशा में क़ानून की भावना की रक्षा के बजाय उसके शब्दशः पालन की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, तात्कालिक सुविधा या प्रबल क्षुधा से अधिक व्यापक श्रेयस् की ओर ध्यान आकृष्ट करने में नैतिक क़ानून की जो उपयोगिता है उसकी उपेक्षा हो जाती है। कर्त्तव्य को समस्त मानवीय दावों के ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है और वह मानवीय दावों को व्यापक रूप में विचार करने के लिए स्मारक का काम नहीं करता। कर्त्तव्य की सामान्य भावना का उचित कार्य तो यह है कि वह विशिष्ट परिस्थितियों में संलिप्त सम्बन्धों और दावों के प्रति हमें अनुभूतिशील बनाए। इस अनुभूतिशीलता की उस समय विशेष रूप से आवश्यकता होती है जब यह आशंका हो कि किसी इच्छा की तात्कालिक सन्तुष्टि कहीं उस इच्छा को छोड़कर शेष सब वस्तुओं के प्रति हमें अन्धा न बना दे। औचित्य की सामान्यीकृत भावना प्रलोभनों के समय उनसे रक्षा के लिए हमें सहारे का काम देती है, वह आचरण के किसी कठोर स्थल को पार करने में हमें सबल समर्थन प्रदान करती है। एक माता स्वभावतः ही अपने बच्चे के दावों के प्रति सावधान रहती है, फिर भी ऐसे मौके आते हैं जबकि उसके लिए अपनी सुख-सुविधा को प्रथम स्थान देना आसान होता है। उचित और कर्त्तव्य की सामान्यीकृत भावना एक बड़ी रक्षा का काम देती है; यह एक सामान्य आदत को चेतन रूप से उपलब्ध करती है। किन्तु ऐसी सामान्य भावना कुछ विशिष्ट अवसरों से पैदा होती है, उदाहरण के लिए ऐसा अवसर जबकि माँ अपने बच्चे के प्रति प्रत्यक्ष प्रेम और उसके कल्याण में प्रत्यक्ष दिलचस्पी से प्रेरित हो। कर्त्तव्य की भावना जब किन्हीं विशिष्ट मूर्त्त परिस्थितियों से ताल्लुक रखने वाले सम्बन्धों के मूल्य को सम्पूर्ण हृदय से स्वीकार कर बनी आदत का परिणाम नहीं होती तब वह एक कमज़ोर नियन्त्रक शक्ति सिद्ध होती है।

इसलिए व्यक्तियों को एकता के बन्धन में बाँधनेवाले सामान्य मूल्य और हित की भावना एक सामान्य सहारा और मार्ग-दर्शक है। किन्तु हम सभी ऐसी परिस्थितियों के वशवर्ती हैं जिनमें हम इस मूल्य के प्रति संवेदनहीन हो जाते हैं और जिनमें दूसरों के अधिकार और प्राप्य की अनुभूति एक विपरीत रुझान की

शक्ति की तुलना में दुर्बल हो जाती है। इस प्रकार दूसरों के दावों को सार्थी के रूप में उचित और कर्त्तव्य की एक ऐसी सामान्यीकृत भावना मिल जाती है जो मूर्त सम्बन्धों के पिछले मूल्यांकन के कारण बढ़ती रही है।

श्रेयस् और नैतिक बुद्धिमत्ता सम्बन्धी विवेचन के अन्तिम भाग में हमने देखा था कि अच्छे व्यावहारिक निर्णय की शक्ति के निर्माण में विभिन्न सामाजिक परिवेश विभिन्न तरीकों से काम करते हैं। यही बात सामाजिक प्रथाओं द्वारा उचित वस्तु के प्रति निष्ठा और वफ़ादारी की वृद्धि के बारे में भी उतनी ही या उससे भी अधिक मात्रा में सत्य है। ऐसी अनेक सामाजिक प्रथाएँ हैं जो विद्रोह की, या कम-से-कम उदासीनता की, वृत्ति पैदा करती हैं। कुछ प्रथाएँ एक दिखावटी, एक परम्परागत, बल्कि एक पाखण्डपूर्ण वफ़ादारी को जन्म देती हैं। ऐसा तब होता है जब मनुष्य में यह भय पैदा हो जाता है कि यदि उसने उस प्रथा का अनुपालन न किया तो उसे कष्ट उठाना पड़ेगा। कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जो उद्देश्यों और मूल्यों के व्यक्तिगत और आलोचनात्मक निर्णय को नुकसान पहुँचाकर कर्त्तव्य को बाहर से दिखावटी तौर पर स्वीकार करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती हैं। साथ ही कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जो मनुष्यों को यह सोचने के लिए, कि सचमुच क्या सही है और नये कर्त्तव्यों को जन्म देने के लिए प्रेरित करती हैं। आज इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक दृश्य इतना जटिल और इतना द्रुत परिवर्तनशील है कि उसका प्रभाव बड़ा विचलित कर देने वाला है। आज ऐसा कोई कुतुबनुमा ढूँढ़ पाना हमारे लिए कठिन है जो हमारे आचरण को एक स्थिर दिशा दिखा सके। परिणामतः एक सच्चे अर्थों में विमर्शात्मक और विचारपूर्ण नैतिकता की आज जितनी आवश्यकता है उतनी पहले कभी नहीं रही। यदि हम नैतिकता की बँधी-बँधाई धारा में बहते रहना नहीं चाहते और यह भी नहीं चाहते कि मनमाने और औपचारिक नैतिक नियमों पर जो सिर्फ हमारे रूढ़ियों और परम्परा के दास होने के कारण हमारे सामने कर्त्तव्य की शक्ल में पेश किये गए हैं, तर्कहीन और कट्टर-पन्थी आग्रह किया जाए तो उसका सम्भवतः यही एकमात्र विकल्प है।

लोगों में यह कहने की प्रवृत्ति शायद हमेशा ही देखने में आती है कि अतीत में नैतिक आदर्शों का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता था और आज नैतिकता के मामले में बहुत शिथिलता है। इन दोनों मामलों में ही आतिशयोक्ति की जाती है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि घरेलू, आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों में आज ऐसे परिवर्तन हो गए हैं जिन्होंने निश्चित और आसानी से पहचाने जाने वाले सम्बन्धों में लोगों को बाँधने योग्य सामाजिक बन्धनों को बहुत अधिक शिथिल कर दिया है। उदाहरण के लिए मशीन कर्मचारी और मालिक के सम्बन्धों के बीच में आ खड़ी हुई है; दूरस्थ बाज़ार उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में आ गए हैं; सचलता और प्रव्रजन ने स्थानीय सामाजिक बन्धनों पर हमला कर दिया है और

बहुधा उन्हें तोड़ भी डाला है; उद्योग, जो किसी समय घर में ही चलते थे और परिवार में एकता के लिए केन्द्र का काम करते थे, कारखानों में चले गए हैं, जहाँ उनका संचालन अवैयक्तिक तरीके से होता है और माता और पिता भी उन्हीं के पीछे-पीछे चले गए हैं; बच्चों की शिक्षा में परिवार का हिस्सा कम हो गया है; मोटरकार, टेलीफोन और मनोरंजन के नये तरीकों ने सामाजिक मामलों में गुरुता केन्द्र को ऐसे सम्पर्कों में स्थापित कर दिया है जो बदलते रहते हैं और बिलकुल ऊपरी हैं। पुरानी रूढ़िगत वफ़ादारियाँ जो किसी समय मनुष्यों को एकता के बन्धन में बाँधे रखती थीं और उन्हें अपने पारस्परिक कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती रहती हैं, अब असंख्य रास्तों से धीरे-धीरे क्षीण हो गई हैं। यह परिवर्तन क्योंकि परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण हुआ है, इसलिए आज अराजकता के जो नये-नये रूप बन गए हैं और कर्त्तव्यों के बारे में जो हल्केपन और शिथिलता की भावना आ गई थीं, उनका मुकाबला लोगों से कर्त्तव्य की भावना और एक आन्तरिक क़ानून के संयम की सामान्य अपील करके नहीं किया जा सकता। आज समस्या समाज में नये स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने की है, जिससे कि उनके भीतर कर्त्तव्य और वफादारियाँ स्वयं स्वाभाविक रूप से विकसित हों।

4

# अनुमोदन, पैमाना और सदाचरण

## 1. अनुमोदन और विरोध मूल तथ्यों के रूप में

आचरण एक जटिल चीज़ है, इतनी जटिल कि बौद्धिक दृष्टि से उसे किसी एक सिद्धान्त में बाँधने के प्रयत्न व्यर्थ हुए हैं। हम दो प्रमुख विचारों का पिछले अध्यायों में उल्लेख कर चुके हैं जो एक-दूसरे के विपरीत हैं, अर्थात् एक ओर वे उद्देश्य जो इच्छा की परितुष्टि करने वाले समझे जाते हैं और दूसरी ओर वे औचित्य और कर्त्तव्य के दावे है, जो इच्छा का वर्जन करते हैं।

यद्यपि नैतिक सिद्धान्त के विभिन्न सम्प्रदायों ने इन दोनों विचारों की एक-दूसरे से व्युत्पत्ति दिखाने का प्रयत्न किया है, तथापि कुछ दृष्टियों से वे एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र और अलहदा हैं। इसके अतिरिक्त नीतिविदों का एक और वर्ग है जो इस बात से बहुत प्रभावित हुआ है कि अनुमोदन और विरोध, स्तुति और निन्दा, सहानुभूतिपूर्ण प्रोत्साहन और रोष को व्यक्त करनेवाले कार्यों का व्यावहारिक रूप सर्वत्र एक-जैसा है। इस वर्ग के सिद्धान्त-निर्माता यह देखकर बहुत चकित हुए हैं कि अनुमोदन और विरोध आदि को व्यक्त करनेवाले इस प्रकार के कार्यों में एक स्वतोभाविता और प्रत्यक्षता होती है, क्योंकि लोगों के लिए दूसरों के आचरण पर अपनी पसन्द या नापसन्द प्रदर्शित करने की प्रवृति सही अर्थों में बहुत अधिक 'स्वाभाविक' होती है। लोग यह पसन्द या नापसन्द किसी चेतन विचार-विमर्श के बिना ही तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त करते हैं, वे न तो उस श्रेयस्कर उद्देश्य की ओर दृष्टिपात करते हैं जो सम्बद्ध कार्य से उत्पन्न होगा और न उस कर्त्तव्य पर नज़र डालते हैं जो उस कार्य के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान होता है। वास्तव में, इस वर्ग की दृष्टि में श्रेयस् और कर्त्तव्य के विचार गौण हैं; उसका ख़याल है कि श्रेयस् वही है जिसे अनुमोदन प्राप्त हो जाए और कर्त्तव्य का निर्धारण मनुष्य दूसरों के दबाव से करते हैं जो पुरस्कार और दण्ड, प्रशंसा और निन्दा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इन पुरस्कार और दण्ड आदि को लोग, दूसरों के कामों के साथ बिना विचार किए, अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में जोड़ते हैं।

इस दृष्टिकोण पर अगर हम लोग आगे विचार करें तो विमर्शात्मक नैतिकता की असली समस्या यह होगी कि लोग किस आधार पर अचेतन रूप से अपना अनुमोदन या विरोध व्यक्त करते हैं। विचार-विमर्श, प्रशंसा और निन्दा के स्वतः

स्फूर्त और प्रत्यक्ष रवैये में अन्तर्निहित अप्रत्यक्ष वस्तु को स्पष्ट और प्रत्यक्ष करके दिखाता है और इस प्रकार उन प्रतिक्रियाओं को, जो बिना किसी विचार के स्वतः मन में पैदा होती हैं, एक संगतता प्रदान करता है और उन्हें एक निश्चित प्रणाली में विधिवत् बाँधता है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि नैतिकता के प्रसंग में 'निर्णय' (जजमेंट) शब्द के दो अर्थ हैं। ज्ञान के सिलसिले में इस शब्द में एक बौद्धिक अर्थ निहित है, निर्णय करने का अर्थ है पक्ष और विपक्ष की युक्तियों को मन में तोलना और प्रमाणों के अनुसार निश्चय करना। तार्किक सिद्धान्त में 'निर्णय' का यही एकमात्र अर्थ माना जाता है। किन्तु मानवीय सम्बन्धों के क्षेत्र में इसका निश्चित रूप से क्रियात्मक अर्थ है। वहाँ 'निर्णय' का अर्थ निन्दा या अनुमोदन, प्रशंसा या दोषारोपण है। इस प्रकार के निर्णय क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं, ठण्डे दिमाग़ से सोचकर बुद्धिपूर्वक किये गए विचार नहीं हैं। वे पसन्दगी और नापसन्दगी को व्यक्त करते हैं, और लोग क्योंकि दूसरों की पसन्दगी या नापसन्दगी के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं, इसलिए ये निर्णय उन लोगों पर बहुत प्रभाव डालते हैं जिनके बारे में वे दिए जाते हैं। नये अहदनामे (न्यू टेस्टामेंट) में 'दूसरों पर निर्णय मत करो' (जज नॉट) का जो आदेश दिया गया है वह 'निर्णय' करने की इस आम प्रथा का एक परिचित उदाहरण है। इससे यह भी प्रकट होता है कि इस प्रकार के निर्णय देना अपने-आपमें एक नैतिक मामला है। इसमें एक ओर तो मनुष्य में यह इच्छा रहती है कि दूसरे उसकी निन्दा न करें और दूसरी ओर उसमें दूसरों की आलोचना करके अपनी श्रेष्ठता दिखाने की प्रवृत्ति रहती है, जो उसके आचरण को प्रेरित करती रहती है।

दूसरों की प्रशंसा और निन्दा से बढ़कर स्वतःस्फूर्त और 'सहजवृत्तिक' वस्तु और कोई नहीं है। विमर्शात्मक नैतिकता, प्रशंसा और निन्दा को प्रदर्शित करनेवाले आम प्रचलित शब्दों की असंगतता और मनमाने भेदों पर विचार करती है और एक ऐसा तर्कपूर्ण सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न करती है जिससे उनका औचित्य सिद्ध किया जा सके और उन्हें संगत बनाया जा सके। वह यह बात खास तौर से देखती है कि बिना विचार-विमर्श के की गई प्रशंसा और निन्दा सिर्फ एक विशिष्ट वर्ग की सामाजिक आदतों में निहित मूल्यों की अवधारणा को दोहराती और प्रतिबिम्बित करती है। इस प्रकार एक लड़ाकू समाज तमाम सामरिक उपलब्धियों और चरित्रों की खूब प्रशंसा करता है; एक उद्योग-सम्पन्न समाज मितव्ययिता, हिसाबी वृत्ति और श्रमिकों की स्थिरता की प्रशंसा करता है और जिन व्यक्तियों में वह इन गुणों को पाता है, उनकी तारीफ़ करता है। इस तरह एक वर्ग में सफलता का अर्थ है बहादुरी और दूसरे में सम्पत्ति का संचय। इन अर्थों के अनुसार ही इनमें प्रशंसा और निन्दा की जाती है। ग्रीक जीवन में ऐथोनियन लोगों की कार्यों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जो धारणाएँ थीं, वे

स्पार्टनों की धारणाओं के बिलकुल विपरीत थीं, और यह वैपरीत्य नीतिशास्त्र-वेत्ताओं के लिए चर्चा का विषय रहा है। हाल में कुछ आलोचकों ने 'अमेरिकनवाद' और 'यूरोपियनवाद' में भी इसी प्रकार का भेद और वैपरीत्य दिखाया है।

इन अन्तरों से अनिवार्यतः वक्त आने पर यह प्रश्न उठता है: प्रशंसा और निन्दा की कौन-सी योजना स्वीकृत की और अपनाई जाए? यह प्रश्न इस कारण और भी अधिक उग्र है कि दूसरों का रवैया मनुष्य की प्रवृत्तियों के निर्माण पर बहुत प्रभाव डालता है। पसन्द और नापसन्द के अभ्यासजनित रवैये, जो अक्सर प्रकट दण्ड और ठोस पुरस्कार के रूप में और प्रायः हमेशा ही उपहास तथा प्रतिष्ठा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, रूढ़िगत नैतिकता के हथियार हैं। इसके अलावा वे मानवीय प्रकृति में इतने गहरे बद्धमूल हैं कि एक सिद्धान्त के अनुसार विमर्शात्मक नैतिकता और नैतिकता के सिद्धान्त का समूचा कार्य ही एक ऐसा तर्कसंगत सिद्धान्त निकालना है जो इन रवैयों के क्रियात्मक रूप का आधार बन सके। यह बात सदाचरण और दुराचरण की अवधारणा का उदाहरण देकर समझाई जा सकती है। आलोच्य सिद्धान्त यह मानता है कि जो वस्तु इच्छा को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से नहीं बल्कि नैतिक दृष्टि से अच्छी है वही सदाचरण है; यह सिद्धान्त उचित वस्तु को भी सदाचरण मानता है; किन्तु उसकी दृष्टि में नैतिक दृष्टि से बुरी और ग़लत वस्तु दुराचरण है। किन्तु सदाचरण प्रथम दृष्टि में वह है जिसे अनुमोदन प्राप्त हो और दुराचरण वह जिसकी निन्दा का जाती हो। रूढ़िगत नैतिकता में कामों और चरित्र-लक्षणों की इज़्ज़त और प्रशंसा इसलिए नहीं होती कि वे सदाचरण हैं; इसके विपरीत वे सदाचरण इसलिए होते हैं कि सामाजिक अनुमोदन और प्रशंसा उनको समर्थित करते हैं। इसीलिए एक योद्धा-समाज में वीरता ही गुण होती है और एक उद्योग-सम्पन्न समाज में उद्यम, मितव्ययिता और परिश्रम गुण होते हैं। इसी प्रकार जिस समाज में अतिप्रकृत वस्तुओं की भक्ति ही सर्वोच्च श्रेयस् समझी जाती है उसमें ग़रीबी, फटे चीथड़े, यतियों की-सी आदतें ही गुण या सदाचरण समझी जाती है। विचार-विमर्श इस क्रम को बदलने का प्रयत्न करता है। वह यह जानने की कोशिश करता है कि किस वस्तु का आदर किया जाना **चाहिए** ताकि जो वस्तु अनुमोदन **के योग्य** सिद्ध हो उसी का अनुमोदन किया जाए। वह यह नहीं मानता कि किसी विशिष्ट समाज में जिस वस्तु को प्राप्त करने की आशा की जाती है और जो पुरस्कृत होती है उसी को गुण मान लिया जाए।

## 2. मानक और उपयोगितावादी सिद्धान्त

— जिस सिद्धान्त पर प्रशंसा और निन्दा तार्किक दृष्टि से आधृत हैं, वही **मानक** (पैमाना) है; वही **व्यावहारिक** दृष्टि से निर्णय की बुनियाद होता है। इस

प्रकार के सिद्धान्त में मानक की अवधारणा का वही स्थान है, जो अब तक विचार किए गए अन्य सिद्धान्तों में श्रेयस् और कर्त्तव्य का रहा है। जिस सिद्धान्त के द्वारा प्रशंसा और निन्दा का विनियमन होना चाहिए, उसे इस सिद्धान्त में प्रमुख नैतिक 'पदार्थ' माना गया है; श्रेयस् और कर्त्तव्य से भी उसे ऊपर स्थान दिया गया है। कारण, इस सिद्धान्त में नैतिक दृष्टि से अच्छी चीज़ वही है जो अनुमोदित हो जाए और उचित वह है जिसका अनुमोदन होना चाहिए। इस प्रकार कर्त्तव्य सामाजिक दबाव से आहरण की गई वस्तुओं के **वस्तुस्थिति-परक** क्षेत्र से हटकर उन कार्यों के **वैधस्थिति-परक** क्षेत्र में चले जाते हैं, जिनकी माँग उचित होने के कारण सिर्फ इसलिए की जाती है कि वे अनुमोदन के मानक (पैमाने) के अनुकूल हैं। अन्यथा वे वस्तुएँ अत्याचारपूर्ण और स्वाधीनता के लिए प्रतिबन्धक हो जातीं। सही वह है जो प्रशंसा के **योग्य** हो; और ग़लत वह है जो दण्ड के **योग्य** अथवा निन्दा के योग्य हो।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि सब मिलाकर अनुमोदन या अननुमोदन का विचार और उसका उचित पैमाना अंग्रेज़ों के नैतिक सिद्धान्त की विशेषता है जैसेकि उद्देश्यों का विचार ग्रीक दर्शन की और कर्त्तव्य का विचार रोमन नैतिक दर्शन की विशेषता है। ग्रीक सिद्धान्त में भी यह विचार अर्थतः अन्तर्निहित है, जहाँ कि कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय करते हुए नाप-तोल और अनुपात पर बल दिया गया है और जहाँ उसमें **श्रेयस्** और **सौन्दर्य** को एक ही बताने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। किन्तु अंग्रेज़ों के नैतिक सिद्धान्त में पहली बार प्रशंसा और निन्दा को और चरित्र के निर्माण में उनके प्रभाव को केन्द्र-बिन्दु बनाया गया है। शैफ्ट्सबरी की विचारधारा में यह नैतिक भावना के अव्यवहित और तात्कालिक अन्तर्ज्ञान के रूप में पाया जाता है, जहाँ कि उसकी तुलना सौन्दर्यात्मक वस्तुओं में 'सुरुचि' के साथ की जा सकती है। ह्यूम की विचारधारा में 'अनुमोदन के योग्य' का अर्थ है, 'जो **सामान्य** रूप में देखने पर प्रसन्नता देने वाला प्रतीत होता है' अर्थात् प्रथम दृष्टि में नहीं और न ही व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के रूप में, बल्कि विचार-विमर्श के बाद सामान्यीकृत दृष्टि में जो प्रसन्नतादायक प्रतीत हो वही 'अनुमोदनीय' है। ऐडम स्मिथ का कहना है कि 'अनुमोदनीय' वस्तु वह है, जो एक **निष्पक्ष** द्रष्टा को सन्तुष्ट कर सके। उसकी यह धारणा ह्यूम के विचार का ही दूसरा रूप है।

बैन्थम का कहना है कि उसके पूर्ववर्तियों की अधिकतर व्याख्याएँ **आप्त प्रामाण्य** के दोष से अत्यधिक ग्रस्त हैं। उनके अनुसार सभी अन्तर्ज्ञानाश्रित सिद्धान्तों में यही दोष है। उसने एक ऐसे सामान्य और अवैयक्तिक अर्थात् एक निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त की खोज का प्रयत्न किया जो सुरुचि या किसी भी व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को नियन्त्रित कर सके और उचित सिद्ध कर सके। स्मिथ और ह्यूम के विचारों में उसने यह अवधारणा अन्तर्निहित रूप में पाई कि किसी

काम या चरित्र-लक्षण का दूसरों के लिए उपयोगी होना ही अनुमोदन का अन्तिम आधार है और कुसेवा और हानिकर होना निन्दा और नापसन्द के आधार हैं। मनुष्य उन कामों की स्वतःप्रेरित होकर प्रशंसा करते हैं, जिनसे उन्हें मदद मिलती है, जिनसे उनके सुख में अभिवृद्धि होती है। इस तथ्य के लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। सहानुभूति भी मानवीय प्रकृति का एक मूल लक्षण है। यदि किसी काम से हमारा अपना हित या सौभाग्य सम्बद्ध न हो तो भी यह देखकर कि उससे दूसरों को सहायता मिलती है, हम सहानुभूतिपूर्वक उसकी प्रशंसा करते हैं। इसी तरह यदि हम यह देखते हैं कि किसी व्यक्ति ने अपने किसी काम से किसी तीसरे पक्ष को जान-बूझकर नुकसान पहुँचाया है, तो उस पक्ष के प्रति सहानुभूति से प्रेरित होकर उस काम की निन्दा करते हैं। हमारी सहजवृत्ति से सहानुभूति हमें उन व्यक्तियों की स्थिति में पहुँचा देती है और हम उनकी उस काम की पसन्द की आभा में और नापसन्द की रोषाग्नि में उसी तरह हिस्सा बँटाते हैं, मानो हम पर व्यक्तिशः उस काम का असर पड़ा हो। सिर्फ असाधारण तौर पर क्रूर और निर्मम व्यक्ति ही दूसरों के लिए कल्याणकारी साहसिक कार्यों या नीचतापूर्ण कृतघ्नता और विद्वेषपूर्ण घृणा के कामों से भावनात्मक दृष्टि से अप्रभावित रहें।

किन्तु सहानुभूतिपूर्ण प्रशंसा और रोष की स्वतःस्फूर्त या रूढ़िगत अभिव्यक्ति की भी कुछ निश्चित सीमाएँ हैं। प्रशंसा और रोष की यह अभिव्यक्ति हमारे अपने परिवार के लोगों, हमारे मित्रों या इसी प्रकार हमारे अन्य निकटवर्ती लोगों से परे शायद ही कभी जाती हो। जो लोग हमारी नजरों से दूर हैं, हमारे लिए अजनबी हैं उनके प्रति हमारी सहानुभूति या रोष शायद ही कभी अभिव्यक्त होते हों और शत्रुओं के प्रति तो उनकी अभिव्यक्ति होती ही नहीं। दूसरी बात यह कि विमर्शहीन प्रशंसा या निन्दा ऊपरी चीजें हैं। वे सिर्फ सहायता और नुकसान की स्पष्ट और एकदम चुभनेवाली घटनाओं को ही दृष्टि में रखती हैं, अधिक नाजुक और ऊपर से नज़र न आने वाली गुप्त सहायता या गुप्त क्षति की घटनाएँ उनके ध्यान में नहीं आतीं। वे सिर्फ सहायता और क्षति की उन्हीं घटनाओं को दृष्टि में रखती हैं जिनके परिणाम थोड़े समय में ही नज़र आ जाते हैं, उनको नहीं जिनके परिणाम देर से प्रकट होते हैं, भले ही वास्तव में वे अधिक महत्त्वपूर्ण हों। और अन्तिम बात यह है कि जब कुछ काम आदत का रूप धारण कर लेते हैं तब उन्हें स्वाभाविक घटनाएँ मान लिया जाता है और उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय किया ही नहीं जाता। उदाहरण के लिए रूढ़िगत नैतिकता क़ानूनों और प्रथाओं के लाभकारी या हानिकर परिणामों को दृष्टि में नहीं रखती।

यहीं अनुमोदन के पैमाने का उपयोगितावादी सिद्धान्त कुछ परिवर्तनों का समावेश करता है। जब लोग यह स्वीकार कर लेते हैं कि सार्वजनीन सुख या कल्याण ही किसी कार्य की प्रशंसा और आदर का एकमात्र आधार है तब वे ऊपर दी गई

तीनों सीमाओं को ख़त्म कर देते हैं। तब प्रशंसा का पैमाना बिलकुल सामान्य बन जाता है। उसका अर्थ यह हो जाता है कि किसी कार्य से प्रभावित **सभी** अनुभूति-शील व्यक्तियों को सुख या दुःख पहुँचानेवाले परिणामों पर निर्णय किया जाना चाहिए। सामान्य या व्यापक परिणामों पर दिया गया यही बल **समानता** के विचार को सामने लाता है और यह कार्य वह ऐसे ढंग से करता है जिससे रूढ़िगत प्रशंसा और निन्दा, सहानुभूति और रोष रूपान्तरित हो जाते हैं। कारण, रूढ़िगत धारणा अपने और दूसरों के, परिवार के व्यक्ति और बाहरी आदमी के, एक साथी नागरिक और एक अजनबी के, एक कुलीन सामन्त और एक सामान्य व्यक्ति के, एक ज़मींदार और एक किसान के और एक ग़रीब और एक अमीर के सुख को एक ही स्तर पर नहीं रखती। किन्तु उपयोगितावादी सिद्धान्त, व्यापकतम और अधिक-तम सर्वसामान्य परिणामों को दृष्टि में रखने का अनुग्रह करने के साथ-साथ इस बात पर भी बल देता है कि सहायता और नुकसान, सुख और दुःख की शक्ल में परिणामों का मूल्यांकन करते समय हर व्यक्ति बराबर समझा जाएगा फिर चाहे उसका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, चाहे उसका लिंग कोई भी हो, चाहे उसका सामाजिक दर्जा कुछ भी हो, चाहे उसकी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति कैसी भी हो। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि इंग्लैंड में उपयोगितावाद के उदय और मुख्य प्रभाव के साथ-साथ काफी बड़े पैमाने पर सामाजिक क्षेत्र में परोपकार के काम हुए और राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की कल्पना का भी उदय हुआ।[1] यह केवल एक संयोग ही नहीं है कि इसका मुख्य क्रियात्मक परिणाम उन कानूनों और प्रथाओं के संशोधन के रूप में सामने आया जो असमानता से पैदा हुए थे या जिन्होंने असमानता को बढ़ाया।

### 3. उपयोगितावाद और सुखवाद में विभ्रम

अब तक हमने उपयोगितावाद के केवल एक ही महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार किया है। हमने कल्याण, लाभ और हानि की अब तक सामान्य रूप में ही चर्चा की है, यह नहीं बताया कि उनका ठीक-ठीक और निश्चित स्वरूप क्या है। किन्तु बैन्थम को इस बात पर गर्व था कि उपयोगितावाद में उनकी एक निश्चित और नपी-तुली धारणा है। उसका कहना था कि सुख और दुःख की कुछ निश्चित इकाइयाँ होती हैं और जिस रूप में सुख-दुःख हम अनुभव करते हैं वे उन इकाइयों के बीज-गणितीय संकलन होते हैं। इस प्रकार, उसके अनुयायियों के अनुसार, उसने कल्याण और सुख की अस्पष्ट धारणा को एक नपे-तुले तथ्य में परिणत कर दिया

1. बैन्थम का जीवनकाल 1748 से 1832 तक था और उसके प्रधान शिष्य जॉन स्टुअर्ट मिल का 1806 से 1873 तक।

जिसे मात्रा के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।[1] किन्तु सुख और दुःख की इकाइयों के रूप में की गई इस परिभाषा का एक और परिणाम हुआ। इसने उपयोगितावाद को उन सब आपत्तियों का पात्र बना दिया जो सुखवाद के विरुद्ध की जा सकती हैं। उपयोगितावाद और सुखवाद के इस एकीकरण के परिणामों का अन्त यहीं नहीं हुआ। जैसाकि उपयोगितावाद के आलोचकों ने कहा है, इसने उपयोगितावाद को एक विचित्र व्याघात का पात्र बना दिया। उपयोगितावाद में इच्छा और प्रेरक प्रयोजन की जो संकल्पनाएँ हैं, उनके अनुसार सभी कामों का एकमात्र उद्देश्य और लक्ष्य **व्यक्तिगत** सुख की प्राप्ति है। किन्तु किसी काम की नैतिकता का निर्ण करने के लिएय उचित पैमाना यह है कि वह काम **दूसरों के** सुख में कितना योग देता है—अर्थात् अपने बजाय दूसरों को कितना लाभ पहुँचाता है। इस प्रकार उपयोगितावादियों के सामने समस्या आचरण के विशुद्ध व्यक्तिगत और स्वार्थपूर्ण प्रेरक प्रयोजन और अनुमोदन के व्यापक सामाजिक और परोपकारपूर्ण पैमाने के बीच संघर्ष की है। केवल निजी सुख की इच्छा से प्रेरित होकर काम करने की प्रवृत्ति का सार्वजनीन कल्याण को ही आचरण के अनुमोदन का बुनियादी सिद्धान्त मानने की प्रवृत्ति के साथ सदा संघर्ष चलता रहा है। बैन्थम की मुख्य दिलचस्पी निर्णय का पैमाना निर्धारित करने में थी, और उसने सुखवादी मनोविज्ञान को जो स्वीकार किया वह मोटे तौर पर महज एक संयोग-मात्र था। वह दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक असंगति को जो नहीं समझ सका, उसका कारण यह था कि उसकी अपनी दिलचस्पी यह अध्ययन करने में थी कि उसके अपने ज़माने के क़ानूनों और प्रथाओं ने किस प्रकार सुख और दुःख के सामान्य वितरण पर बहुत अन्यायपूर्ण प्रभाव डाला। उसने यह अनुभव किया कि इन क़ानूनों और प्रथाओं ने किस हद तक वर्गीय हितों को अभिव्यक्त किया और किस प्रकार कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली व्यक्तियों को लाभ और शेष बहुसंख्यक वर्ग को हानि पहुँचाकर विशिष्ट हितों के प्रति सक्रिय पक्षपात किया। अब यह स्थिति आ गई थी कि क़ानूनों और प्रथाओं को केवल उनके परिणामों की दृष्टि से **अवैयक्तिक** रूप में ही देखा जा सकता था, क्योंकि कानूनों और प्रथाओं पर किसी विशेष अभिसन्धि का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

उसके अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल की दिलचस्पी यद्यपि मुख्यतः सामाजिक और राजनीतिक सुधारों में थी, तो भी वह व्यक्तिगत नैतिकता में भी दिलचस्पी

---

1. मिल ने कहा है : "उसने नीतिशास्त्र और राजनीति में विचार की ऐसी आदतों और जाँच-पड़ताल के ऐसे तरीकों का समावेश किया, जो विज्ञान की धारणा के लिए अनिवार्य हैं।... पहली बार उसने नैतिक और राजनीतिक दर्शन में विचारों के नपे-तुलेपन को समाविष्ट किया।" 'आटोबायोग्राफी', 1874 के लन्दन संस्करण के पृष्ठ 65-67 में और 'डिस्सर्टेशन एण्ड डिस्कशन' के 'ऐसे ऑन बैन्थम' में।

लेता था। किन्तु यह दिलचस्पी वैसी नहीं थी, जैसी बैन्थम की थी। इसलिए उसने व्यक्तिगत **प्रवृत्ति** और व्यक्तिगत **चरित्र** के प्रश्न को उठाया और सुखवादी मनोविज्ञान को औपचारिक रूप से त्यागे बिना भी, उसने उपयोगितावादी नैतिकता का कायाकल्प कर दिया। किन्तु मिल द्वारा नैतिकता के सिद्धान्त में विशेष रूप से दिये गए योग पर विचार करने से पूर्व हम प्रवृत्ति और सामान्य तौर पर कल्याण-कारी सामाजिक परिणामों के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करना चाहेंगे। कल्पना कीजिए कि हम सुख और दुःख पर सुखवादियों की भाँति ज़ोर न दें और उसकी जगह जन-कल्याण, लोक-मंगल और सार्वजनिक सुख को, जो कुछ अस्पष्ट होने पर भी अधिक व्यापक शब्द हैं, किसी कार्य के अनुमोदन का पैमाना मान लें, तो भी इस पैमाने और व्यक्तिगत प्रवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या बनी ही रहेगी। हर व्यक्ति की नैतिक समस्या यह है कि जन-सामान्य के कल्याण को, अपने से इतर लोगों के सुख को, अपने आचरण का नियामक प्रयोजन बनाया कैसे जाए। एक विशुद्ध सैद्धान्तिक कल्पना में भी जन-सामान्य के सुख को सही और ग़लत का पैमाना बनाना कठिन है। कारण यह है कि मूल्यांकन का यह तरीका अपने या अपने निकटवर्तियों के सुख को प्रधानता देने की हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत है। किन्तु जब हमारे अपने हित के प्रति हमारे स्वाभाविक पक्ष-पात के साथ हमारे बौद्धिक मूल्यांकन का संघर्ष होता है, उस समय उस मूल्यांकन को अमली रूप देने में जो कठिनाई होती है उसकी तुलना में उपर्युक्त कठिनाई बहुत कम है।

यह स्पष्ट है कि केवल आन्तरिक व्यक्तिगत प्रवृत्ति ही हमें इन समस्याओं को हल करने में सहायता दे सकती है। निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ परिणामों को हम जितना महत्त्व देंगे, उतना ही हम व्यक्तिगत चरित्र को इस पैमाने के अमल में आने की गारण्टी मानने के लिए मजबूर होंगे। हमें यह मानना पड़ेगा कि उस अवस्था में यह पैमाना या तो बौद्धिक दृष्टि से हमारे मूल्यांकन में, या व्यावहारिक दृष्टि से हमारे व्यवहार में, सक्रिय रहेगा। जिस कथित नपे-तुलेपन के लिए बैन्थम की प्रशंसा की जाती है वह वास्तविक आचरण को असम्भव बना देता है। मनुष्य किसी प्रस्तावित कार्य के बारे में उसकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुभव के आधार पर तो यह अनुमान लगा सकता है कि दूसरों के सुख या दुःख पर उसका सामान्यतः क्या असर पड़ेगा; किन्तु किसी के लिए भी पहले से यह हिसाब लगाना सम्भव नहीं है कि किसी काम का परिणाम सुख या दुःख की कितनी इकाइयाँ होगा (बशर्ते कि यह मान लिया जाए कि सुख और दुःख को इकाइयों की मात्रा में बाँटा जा सकता है)। हमें निश्चय है कि यदि हममें व्यक्तिगत दयालुता, गंभीरता और न्यायकारिता की **अभिवृत्ति** है तो हम किसी भी कार्य से दूसरों की भलाई पर पड़नेवाले प्रभाव का उन लोगों से कहीं अधिक अच्छा निर्णय कर सकेंगे, जिनमें

घृणा, पाखण्ड और स्वार्थ की अभिवृत्तियाँ हैं। जो व्यक्ति केवल बाह्य परिणामों की बारीकियों पर ही विचार करता है, वह अपने-आपको यह विश्वास आसानी से दिला सकता है कि किसी व्यक्ति को हत्या करके हटा दिया जाए तो उससे लोगों के आम सुख में वृद्धि होगी। किन्तु किसी ईमानदार आदमी से यह स्वीकार करने की आशा नहीं की जा सकती कि मानव-जीवन के प्रति अनादर की भावना के परिणाम अच्छे होंगे। एक ओर यह ठीक है कि कार्यों के निर्णय का अन्तिम पैमाना उनके वस्तुनिष्ठ परिणाम हैं। परिणाम ही किसी काम का अर्थ है। किन्तु यह बात भी उतनी ही ठीक है कि मनुष्य के निर्णय और विवेक का सही होना और निर्णय का आचरण को प्रभावित कर सकना, दोनों ही चरित्र के आन्तरिक गठन पर निर्भर हैं। एक दयालु और ईमानदार प्रकृति के व्यक्ति में निर्णय और हिसाब-किताब की अधिक योग्यता न होने पर भी उस पर भरोसा करना अधिक सुरक्षित है, जबकि भविष्य को पहले से ही देख सकने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी जो व्यक्ति गम्भीर नहीं है और जिसका मन ईर्ष्या-द्वेष से भरा है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, जब हम क़ानूनों और प्रथाओं के नैतिक मूल्य का निर्धारण करते हैं (अर्थात् जन-सामान्य के कल्याण की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करते हैं) तब परिणामों का अवैयक्तिक और सूक्ष्म विचार उचित है, क्योंकि अवैयक्तिक होने के कारण उनमें अच्छी या बुरी किसी भी प्रकार की आन्तरिक अभिवृत्ति नहीं होती।

इसीलिए मिल ने कहा है कि "दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना जैसाकि तुम उनसे अपने प्रति करवाना चाहोगे और पड़ोसी के साथ अपनी ही भाँति प्रेम करना उपयोगितावादी नैतिकता का आदर्श और पूर्ण रूप है।" इस कथन से उसने उपयोगितावाद का मानव-समाज की निष्पक्ष और अभिनिवेशहीन नैतिक भावना के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। कारण यह है कि उसके उपर्युक्त कथन में मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को प्रधान स्थान दिया गया है और विशिष्ट परिणामों के हिसाब-किताब को गौण। फलतः मिल के दृष्टिकोण के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि "क़ानूनों और सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति के सुख को यथासम्भव समग्र के हित के अनुकूल रखा जाना चाहिए और शिक्षा और जनमत को, जिनका मानवीय चरित्र पर इतना विशाल प्रभाव है, अपने इस प्रभाव का उपयोग इस ढंग से करना चाहिए कि हर व्यक्ति के मन में अपने व्यक्तिगत सुख और समग्र समाज के कल्याण में एक अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित हो सके।" संक्षेप में, हमारे पास एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके द्वारा हम सामाजिक व्यवस्था के नैतिक मूल्य का निर्धारण कर सकते हैं। वह सिद्धान्त है : क्या यह व्यवस्था समाज के सदस्यों को यह अनुभूति कराती है कि उनका सुख उन्हीं उद्देश्यों और प्रयोजनों की सिद्धि में है, जिनसे दूसरों को सुख मिलता है?

साथ ही औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह की शिक्षाओं के लिए भी हमारे पास एक आदर्श पैमाना है। अच्छी शिक्षा वह है जो सब व्यक्तियों में जन-सामान्य के कल्याण को समुन्नत करने के लिए दिलचस्पी पैदा करे, ताकि दूसरों की स्थिति सुधारने के लिए वे जो कुछ कर सकते हैं उसी में अपना भी सुख और कल्याण समझें।

मिल यह भी चाहता है कि कुछ खास अभिवृत्तियाँ उनके बाह्य परिणामों का ख्याल किए बिना मनुष्यों में इस ढंग से पैदा और विकसित की जाएँ, **मानो** वे अपने-आपमें स्वतन्त्र उद्देश्य हों। इस प्रकार वह व्यक्तिगत प्रवृत्ति पर भी बल देता है। उदाहरण के लिए हम दूसरों के साथ मैत्री की भावना को अपनी प्रकृति और स्वभाव से ही पसन्द करते हैं, यह आवश्यक नहीं है कि हम उसे केवल बाह्य परिणामों के पैमाने से ही नापकर पसन्द करें। हम स्वभावतः

> "चाहते हैं कि अपने साथी प्राणियों के साथ हमारी एकता हो··· सामाजिक स्थिति मनुष्य के लिए इतनी स्वाभाविक, इतनी आवश्यक और इतनी अभ्यासजनित हो गई है कि यदि कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उसे मजबूर न करें या वह स्वेच्छा से ही अपने-आपको उससे अलग न करे तो **वह अपने-आपको एक समाज के सदस्य के अलावा और किसी रूप में सोच ही नहीं सकता**···इसलिए ऐसी कोई भी परिस्थिति, जो किसी समाज के लिए आवश्यक है, मानव की उन परिस्थितियों की कल्पना का अधिकाधिक अविभाज्य अंग बनती जाती है, जिनमें कि वह पैदा हुआ है और जो मानव प्राणियों की नियति हैं।" सामाजिक बन्धनों का यह दृढ़ीकरण व्यक्ति को "अपनी **अनुभूतियों** का दूसरों के कल्याण के साथ एकीकरण करने के लिए प्रेरित करता है।" "वह अपनी नैसर्गिक वृत्ति से ही अपने-आपको एक ऐसा प्राणी मानने लगता है जो **निःसन्देह** दूसरों के हितों का खयाल रखता है। दूसरों का हित उसके लिए एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसका उसे उसी तरह स्वाभाविक और आवश्यक रूप से ख़याल रखना चाहिए जिस तरह हम अपने अस्तित्व की किसी भी भौतिक परिस्थिति का ख़याल रखते हैं।" अन्त में यह सामाजिक भावना, चाहे वह कितनी भी दुर्बल हो, "मनुष्य के सामने शिक्षा द्वारा पैदा किए गए अन्धविश्वास या बाहर से जबर्दस्ती थोपे गए कानून के रूप में नहीं, बल्कि एक कल्याणकारी गुण के रूप में उपस्थित होती है।···जिन लोगों के मन नैतिकता से बिलकुल शून्य हैं, ऐसे लोगों को छोड़कर शायद ही कोई ऐसे लोग हों जो अपनी जीवन-पद्धति को दूसरों के हित की पूर्ण उपेक्षा के मार्ग पर ढालना पसन्द करें और यदि वे दूसरों के हित का ख़याल करें भी तो सिर्फ तभी जबकि उनका अपना हित उसके लिए उन्हें मजबूर करे।'[1]

1. यटिलिटेरियनिज़्म, अध्याय 3।

सहानुभूति के सम्बन्ध में लिखते हुए भी बैन्थम ने "सहानुभूति को जो मान्यता दी है वह अनुभूति के अधिक जटिल रूपों पर लागू नहीं होती— उदाहरण के लिए दूसरों से प्रेम करने की भावना, सहानुभूति-प्रदर्शन सहारे की आवश्यकता या प्रशंसा और भक्ति के किसी पात्र की जरूरत।"[1] "आत्म संस्कार, मनुष्य द्वारा अपने अनुरागों या इच्छा को स्वयं साधना···बैन्थम की विचार-प्रणाली में एक रिक्त स्थान है। दूसरा और बिलकुल बराबरी का भाग, यानी मनुष्य के बाह्य कार्य कलापों का नियमन पहले भाग के बिना बिलकुल अधूरा और अपूर्ण होगा। कारण, हम यह कैसे जान सकते हैं कि बहुत-से काम हमारे अथवा दूसरों के सांसारिक हितों को कैसे प्रभावित करेंगे, जब तक कि हम विचारणीय प्रश्न के अ···में इस बात पर भी विचार न करें कि वह हमारे या दूसरे के अनुरागों और इच्छाओं के नियमन को किस प्रकार प्रभावित करेगा?"[2]

दूसरे शब्दों में मिल ने यह देख लिया था कि बैन्थम के सिद्धान्त की एक कमज़ोरी है कि जिन उपादानों से मनुष्य की प्रवृत्ति का निर्माण होता है उनका मूल्य सिर्फ इसलिए है कि वे हमें सुख को जन्म देनेवाले विशेष कामों के लिए प्रेरित करते हैं। मिल की दृष्टि में सुख के **प्रत्यक्ष** स्रोत और घटक तत्त्व के रूप में उनका एक अपना मूल्य है। इसीलिए मिल ने कहा है:

"मैं मानवीय सुख में होनेवाली किसी भी बड़ी वृद्धि को, जो इच्छाओं में परिवर्तन के बिना, केवल बाहरी परिस्थितयों के परिवर्तन के कारण होती है, निराशाजनक समझता हूँ।"[3] अपनी ऑटोबायोग्राफी (आत्मकथा) में बैन्थम के सम्बन्ध में अपनी पहली प्रतिक्रिया देते हुए मिल ने कहा है, "मैंने ही पहली बार व्यक्ति के आन्तरिक संस्कार को मानवीय सुख-समृद्धि की प्राथमिक आवश्यकताओं में उसका यथोचित स्थान प्रदान किया है। अब तक बाह्य परिस्थितियों के अनुशासन को ही लगभग पूरा-का-पूरा महत्त्व प्रदान किया जाता था, किन्तु मैंने उसे वह महत्त्व देना बन्द कर दिया। मेरे आचारशास्त्र और दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों में भावनाओं का परिष्कार एक महत्त्वपूर्ण बुनियादी मुद्दा बन गया।"[4]

सुख और चरित्र लक्षणों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि सुखों में परस्पर मात्रा और तीव्रता के कारण ही अन्तर नहीं

---

1. अर्ली एसेज, पृष्ठ 354 (गिब्स लन्दन का पुनर्मुद्रण, 1897)।
2. वही, पृष्ठ 357
3. वही, पृष्ठ 404
4. आटोबायोग्राफी, लन्दन, 1884, पृष्ठ 143।

होता, गुण का भी अन्तर होता है। कविता, कला या विज्ञान के रसग्रहण या विवेचन से एक ऐसा सन्तोष प्राप्त होता है जिसकी तुलना मात्र ऐन्द्रियिक सन्तोष से नहीं की जा सकती। मिल ने व्यावहारिक पैमाने को आनन्द से हटाकर किस हद तक चरित्र पर पहुँचा दिया है (क्योंकि कोई सुख क़िस क़िस्म का है, इसका निश्चय उस सुख के साथ विद्यमान व्यक्तिगत चरित्र लक्षण से होता है), यह उसके इस उद्धरण से साबित होता है : "कोई भी समझदार व्यक्ति मूर्ख बनने को राजी नहीं होगा, कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी अनपढ़ बनना नहीं चाहेगा, कोई भी संवेदनशील और अन्तर्भावनावाला व्यक्ति स्वार्थी और कमीना नहीं बनना चाहेगा, भले ही उन्हें यह समझाने की चेष्टा की जाए कि मूर्ख, बुद्धू या बदमाश व्यक्ति उनकी अपेक्षा अपने भाग्य से अधिक सन्तुष्ट रहता है···एक सन्तुष्ट सुअर से एक असन्तुष्ट मानव बने रहना कहीं बेहतर है।"

हमने बैन्थम की विचारधारा से मिल की विचारधारा में हुए परिवर्तन पर विचार को यहाँ काफी स्थान दिया है। इसका कारण यह नहीं कि हम दोनों के बीच ऐतिहासिक वैषम्य दिखाना अथवा उनकी जानकारी देना चाहते हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि, हालाँकि मिल ने यह बात कभी स्वीकार नहीं की तो भी, उसकी विचारधारा में उपयोगिता के सुखवादी तत्त्व का परित्याग कर दिया गया है। इस सुखवादी तत्व के कारण ही उपयोगितावाद के सिद्धान्त पर भी आपत्ति उठाई जाती है और व्यवहार में भी वह चल नहीं पाता। इस कारण यह जान लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक उपयोगितावाद के असमर्थनीय सुखवाद के साथ उलझा होने पर भी समाज कल्याण (अर्थात् व्यापक और निष्पक्ष दृष्टि से परखे गए कल्याण) को किसी कार्य के अनुमोदन का पैमाना बनाया जा सकता है। उसके सिद्धान्त का यह संशोधित रूप उन उपादानों द्वारा, जो आत्मा के आन्तरिक उपादान हैं, एक उचित और ग्राह्य सुख के सृजन में अदा की गई महान् भूमिका को स्वीकार करता है और साथ ही वह क़ानूनों और प्रथाओं के नैतिक मूल्यांकन के लिए एक पैमाना भी उपस्थित करता है। बुरी सामाजिक व्यवस्थाएँ जो प्रत्यक्ष दुःख पैदा करती हैं, उसे छोड़ दें तो भी उनका मनुष्य की उन प्रवृत्तियों पर बुरा असर पड़ता है, जो एक उच्चतर और शुद्ध आनन्द की प्राप्ति में योग देती हैं।

प्रथाएँ और रूढ़ियाँ केवल इसीलिए अच्छी नहीं हैं कि वे मनुष्य के कल्याण पर सीधा असर डालती हैं, बल्कि उनके अच्छी होने का इससे भी बड़ा कारण यह है कि वे श्रेयस्कर सुखोपभोग प्रदान करने वाली अच्छी प्रवृत्तियों के विकास का समर्थन करती हैं।

### 4. उद्देश्यों और पैमानों का सम्बन्ध

प्रयोजन, लक्ष्य और उद्देश्य पैमानों से सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु फिर भी उनका

परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी तरह उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी वे एक-दूसरे से अलग हैं। पहले से कल्पित उद्देश्यों का सम्बन्ध इच्छा से है। वे भविष्य की ओर इसलिए निहारते हैं, क्योंकि वे उन वस्तुओं के प्रक्षेप हैं जिनमें इच्छाओं की परितुष्टि होगी। दूसरी ओर पैमाने उन कार्यों को दृष्टि में रखते हैं जो पहले किए जा चुके हैं अथवा उन्हें कल्पना में इस प्रकार देखते हैं कि **मानो** वे किए जा चुके हों। कोई भी वस्तु, जिसे एक उद्देश्य के रूप में अथवा इच्छा की पूर्ति के रूप में देखा जाता है, उसी अनुपात में अच्छी है जिसमें कि वह किसी इच्छा की वास्तविक पूर्ति या सन्तुष्टि करती है। किन्तु पैमाने की दृष्टि से कोई भी काम तब अच्छा है जबकि वह **अनुमोदन** प्राप्त कर सके और उसे क़ायम रख सके। प्रारम्भ में यह अनुमोदन दूसरों से प्राप्त होनेवाला अनुमोदन होता है। मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि मैं इस प्रकार काम करूँ तो क्या अमुक समूह, या उसका अमुक सदस्य मुझे बर्दाश्त कर लेगा या मुझे प्रोत्साहन देगा या मेरी प्रशंसा करेगा? प्रशंसा और निन्दा ही वह दर्पण हैं जिनमें आदमी अपने काम की नैतिकता का प्रतिबिम्ब देखता है। इस प्रतिबिम्ब के द्वारा व्यक्ति अपने काम का एक ऐसे दृष्टिकोण से मूल्यांकन करता है, जो किसी इच्छा की सम्भावित सीधी परितुष्टि के दृष्टिकोण से भिन्न है। जब वह दूसरों की प्रतिक्रिया को भी दृष्टि में रखता है तब वह अपने काम के सम्बन्ध में अपनी अवधारणा को अधिक व्यापक बनाता है और उसका सामान्यीकरण करता है। जब वह एक पैमाने को दृष्टि में रखता है तब वह सम्बद्ध वस्तु को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखता है। लेकिन अगर वह केवल व्यक्तिगत दृष्टि से देखे तो वह वस्तु केवल एक उद्देश्य होती है और कुछ नहीं।

किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग या किसी व्यक्ति विशेष की पसन्द या नापसन्द की प्रतिक्रिया का यह विचार बाद में पृष्ठभूमि में चला जाता है। मनुष्य एक **आदर्श** द्रष्टा की कल्पना करता है और उस निष्पक्ष, दूरदर्शी और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से हर चीज़ को परखनेवाले आदर्श द्रष्टा की आँखों से अपने काम को देखता है। यद्यपि उद्देश्य और पैमाना (आदर्श) दो अलग-अलग अवधारणाएँ हैं, फिर भी पैमाने का स्वभावतः यह तकाज़ा होता है कि उसके अनुसार जो वस्तु अनुमोदनीय हो, वह व्यक्ति का उद्देश्य **बन जाए**। दूसरे शब्दों में पैमाना एक नये उद्देश्य के सृजन की माँग करता है और यदि इच्छा उस उद्देश्य का अनुमोदन कर दे तो वह एक नई किस्म के उद्देश्य की माँग करेगा, जिस पर दूसरों के अनुमोदन की छाप लगी हो। यदि पैमाने की अवधारणा किसी अन्य स्रोत से उत्पन्न हो और उसका अर्थ उद्देश्यों के अर्थ से भिन्न हो तो वह उद्देश्यों पर कोई नियन्त्रक और निर्माणात्मक प्रभाव नहीं डाल सकेगा। पैमाने का महत्त्व इस बात में है कि इसमें वह **ढंग** भी निहित है जिससे उद्देश्य निर्धारित किए जाने **चाहिए** अर्थात् उद्देश्य ऐसे होने

चाहिए कि उनका जन-कल्याणकारी होने के कारण अनुमोदन किया जा सके।

इस तथ्य को स्वीकार करके हम एक कठिन समस्या के समाधान की स्थिति में आ जाते हैं। यह समस्या सुखवाद के इस विरोधाभास के रूप में व्यक्त की जा सकती है कि सुख को प्राप्त करने का उपाय उसके लिए प्रयत्न करना नहीं है। इसी उक्ति के समानान्तर एक और उक्ति भी हो सकती है और वह यह है कि सदाचरण को प्राप्त करने का उपाय उसे सीधा अपना लक्ष्य बनाना नहीं है। कारण, पैमाना या आदर्श और इच्छा का उद्देश्य एक ही चीज़ नहीं है। इसलिए सामान्य श्रेयस् या कल्याण में योग देना विमर्शात्मक अनुमोदन का पैमाना हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह पहले से ही कल्पित उद्देश्य भी हो। वास्तव में उसे इच्छा का उद्देश्य बनाने की कल्पना करना सहज नहीं है, इच्छा का सीधा उद्देश्य वह तभी बन सकता है जब वह इतना अनिश्चित और अस्पष्ट हो कि मन में केवल एक विसारित (छितरी हुई) भावनात्मक स्थिति पैदा करे और यह संकेत न करे कि आचरण का लक्ष्य क्यों और कैसे हो। दूसरी ओर इच्छा एक निश्चित और मूर्त्त वस्तु की ओर संकेत करती है जिसे लक्ष्य बनाया जाना चाहिए। जब यह उद्देश्य मन में उदित होता है: तब इसकी इस दृष्टिकोण से परीक्षा और परख की जाती है—जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करेगा क्या उससे सब सम्बद्ध व्यक्तियों का कल्याण सधेगा?

सुख का विचार मूलतः उन इच्छाओं से ही पैदा होता है जिनकी पूर्ति हो जाती है। यह (सुख) इस तथ्य को प्रकट करने वाली एक सामान्य परिभाषा है, कि यद्यपि इच्छाएँ और उन्हें पूरा करने वाली वस्तुएँ अलग-अलग हैं तो भी उन सबमें एक सामान्य गुण है और वह यह है कि उनकी पूर्ति या उपलब्धि होती है। यह एक आकारी लक्षण है। यह ख़याल ग़लत है कि चूँकि अनेक वस्तुओं का एक ही नाम 'सुख' या 'आनन्द' है, इसलिए उनकी अन्तर्वस्तु या आन्तरिक तत्त्व भी एक ही जैसे हैं। यदि हम ऐसा मानें तो यह भी मानना होगा कि स्मिथ नाम के सभी आदमी एक ही जैसे होंगे, क्योंकि उनके नाम एक ही हैं। कोई भी दो मूर्त्त सुख अपनी अन्तर्वस्तु या तत्त्व की दृष्टि से एक नहीं हैं। उनमें एकता सिर्फ इसी बात की है कि सभी एक उपलब्धि, एक पूर्णता हैं, उनसे एक इच्छा की पूर्ति होती है। एक कंजूस को पैसा इकट्ठा करके सन्तोष और सुख प्राप्त होता है और एक उदार व्यक्ति को उसे दूसरों के कल्याण के लिए खर्च कर सुख प्राप्त होता है। एक आदमी दूसरों से किसी तरह आगे बढ़कर खुश होता है और दूसरा औरों का किसी तकलीफ़ में से उद्धार करके खुश होता है। अन्तर्वस्तु की दृष्टि से देखा जाए तो सुख के इन दोनों प्रकारों में कोई भी मेल नहीं है, किन्तु बाह्य आकार की दृष्टि से देखा जाए तो वे दोनों एक-जैसे हैं, क्योंकि दोनों की एक ही स्थिति है, दोनों एक ही भूमिका अदा करते हैं और वह है इच्छा की पूर्ति।

ऐसी दशा में आदर्श या पैमाने का काम विभिन्न प्रकार की भौतिक परितुष्टियों में भेद करना और यह निश्चय करना है कि किस प्रकार की परितुष्टि वास्तव में नैतिक अर्थात् अनुमोदनीय है। वह यह कहता है कि विभिन्न प्रकार की परितुष्टियों में से वही अनुमोदनीय है जो अपने साथ-साथ दूसरों को भी परितुष्टि प्रदान करे या जिसकी उनके कल्याण के साथ कम-से-कम इतनी संगति अवश्य हो कि वह उन्हें दुःख और कष्ट न दे। वह यह नहीं बताता कि मनुष्य का ठीक कौन-सा लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु वह हमें यह जरूर बताता है कि हमें उन उद्देश्यों और प्रयोजनों का, जो हमारी इच्छाओं के कारण स्वतन्त्र रूप से हमारे मन में पैदा होते हैं, अनुमोदन या निन्दा कैसे करनी चाहिए। इस मुद्दे को स्पष्ट रूप में स्वीकार कर लेने पर हम अक्सर पैदा होने वाली एक समस्या की कृत्रिमता को अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह बात दृढ़ता से कही गई है कि समस्त नैतिक सिद्धान्त की असल जड़ व्यक्तिगत सुख और जन-साधारण के सुख का पारस्परिक सम्बन्ध है। यह कहा जाता है कि नैतिकता इन्साफ़ तभी बन सकती है जबकि इन दोनों में पूर्ण समीकरण हो। दूसरे शब्दों में हम एक ऐसी दुनिया से सन्तुष्ट नहीं हो सकते जिसमें दूसरों को सुख देने वाला कार्य स्वयं उसके कर्त्ता को दुःख पहुँचाए, या दूसरों को कष्ट देने वाला कार्य स्वयं उसके कर्त्ता को सुख प्रदान करे। संसार में हमें इस सम्बन्ध में जो असंगतियाँ और व्यत्यय नज़र आते हैं उनकी व्याख्या करने के लिए काफी विदग्धता दिखाई जा चुकी है। कारण, यह तर्क दिया जा सकता है कि अत्यधिक स्वार्थवृत्ति सुख-प्राप्ति के लिए प्रतिकूल है, किन्तु अत्यधिक उदारता और अनुरागों के प्रति संवेदनशीलता भी सुख प्राप्ति के लिए कम प्रतिकूल नहीं है। सबसे अधिक सुखी वह व्यक्ति प्रतीत होता है जो अपनी सहानुभूतियों पर दूरदर्शितापूर्ण नियन्त्रण रखता है और इस प्रकार दूसरों के सौभाग्य में संलिप्त होने से अपने-आपको बचाए रखता है। यदि हमें पैमाने और उद्देश्य में भेद की एक बार प्रतीति हो जाए तो व्यक्तिगत सुख और जन-साधारण के सुख में एकत्व या समत्व स्थापित करने की यह समस्या हमें अवास्तविक प्रतीत होगी। पैमाना या आदर्श हमसे यह कहता है कि हमें उन वस्तुओं को चाहना चाहिए और उन चीज़ों में परितुष्टि अनुभव करनी चाहिए, जो उन लोगों के लिए भी कल्याणकारी और श्रेयस्कर हों जिनके साथ हम मित्रता, साथीपन, नागरिकता और विज्ञान या कला की साधना आदि के द्वारा बन्धन में बँधे हुए हैं।

बहुत-से लोग इस समस्या का समाधान कर लेते हैं। इसके लिए वे सिर्फ सैद्धान्तिक रूप से यह प्रदर्शित नहीं करते कि जो चीज़ दूसरों को सुख देगी वह उन्हें भी सुख देगी, बल्कि वे स्वेच्छा से ऐसी वस्तुओं का अपने लिए चयन करते हैं जो दूसरों के लिए कल्याणकारी होती हैं। वे व्यक्तिगत सुख और सन्तोष अनुभव करते हैं, क्योंकि उनकी इच्छा की परितुष्टि हुई है, किन्तु उन्होंने प्रारम्भ में इच्छा ही

एक निश्चित बनत के अनुसार की होती है। हो सकता है कि उनकी यह परितुष्टि देर तक न रहे और उतनी तीव्र न हो जितनी कि वे किसी अन्य उपाय से प्राप्त कर सकते थे। किन्तु इस परितुष्टि में एक विशेषता है और वह विशेषता उसे उनके लिए अन्य सब चीज़ों से अधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है। उन्हें एक ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसने उनसे अपने-आपको **अनुमोदित** कराया होता है और अनुमोदित सुख होने का यह गुण ही उस सुख को अमूल्य और अतुलनीय बना देता है। इच्छा जिन वस्तुओं और उद्देश्यों को व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत करती है उनमें से वह सिर्फ उन्हीं को स्वेच्छा से चुनता है, जो सामाजिक सम्बन्धों के साथ संगत हों और इस प्रकार वह एक **ऐसी किस्म का** सुख प्राप्त करता है जो दूसरों के सुख के साथ समरस और संगत होता है। सिर्फ इसी अर्थ में व्यक्तिगत सुख और जन-सामान्य के सुख के बीच समीकरण हो सकता है। किन्तु आम तौर पर आवश्यकता भी इसी अर्थ में समीकरण की है।

### 5. पैमाने में न्याय और परहितैषणा का स्थान

जब यह मान लिया जाता है कि किसी काम का अनुमोदन किया जाए या न किया जाए, इसके लिए पैमाना यह है कि उससे दूसरों के श्रेयस् में योग मिलता है या नहीं, तब यह सवाल उठता है कि न्याय का इस पैमाने के साथ क्या सम्बन्ध है। प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि मानो परहितैषणा को इतना ऊँचा उठा दिया गया है कि न्याय का एक प्रकार से नैतिकता की तस्वीर में कोई स्थान ही नहीं रहा। पैमाने की इस कल्पना की हर हालत में इस आधार पर आलोचना की गई है कि न्याय ही सर्वोच्च गुण या धर्म है और सर्व-सामान्य के हित का आदर्श या पैमाना न्याय को, जो अपने-आपमें एक स्वतःपूर्ण वस्तु कहा जाता है, एक ऐसी वस्तु की तुलना में हीन बना देता है जो परिणामों की दृष्टि से उससे परे की चीज़ है। बुनियादी तौर पर प्रश्न यहाँ भी वही है, जिस पर हम अन्य रूपों में पहले विचार कर चुके हैं; अर्थात् नैतिकता में परिणामों का स्थान। जो लोग परिणामों पर विचार करने का अर्थ नैतिकता को गिराना समझते हैं, उनकी धारणा न्याय के किसी अमूर्त्त सिद्धान्त पर आधृत है। **'न्याय होना ही चाहिए, चाहे उससे आसमान फट पड़े'**, यह इस दृष्टिकोण को प्रकट करने वाली एक प्राचीन उक्ति है। न्याय होना चाहिए, फिर चाहे उसके परिणाम कुछ भी हों, चाहे आसमान ही फट पड़े। उनका तर्क यह होता है कि परिणामों पर विचार करना, चाहे वे जन-सामान्य के कल्याण-विषयक ही क्यों न हों, न्याय को एक कालसाधक या कालोचित वस्तु बना देता है और उसकी आप्तता और भव्यता को कम करता है।

इस आपत्ति के दो उत्तर हैं। पहला, यह कि यदि हम नैतिकता के पैमाने में से कामों के परिणाम का विचार निकाल दें तो हमारे पास सिर्फ एक औपचारिक

सिद्धान्त-मात्र रह जाएगा। उस दशा में एक अमूर्त सिद्धान्त ही हमारे पास होगा और नैतिकता का अर्थ इस अमूर्त सिद्धान्त के अनुरूप चलना ही रह जाएगा; नैतिकता किसी महत्त्वपूर्ण और सार्थक उद्देश्य के लिए सप्राण प्रयत्न नहीं रहेगी। अनुभव बताता है कि मानवीय श्रेयस् को किसी बाह्य और औपचारिक नियम के हवाले कर देने से कठोरता और क्रूरता की प्रवृत्ति उभरती है। यह एक आम प्रचलित उक्ति है कि न्याय के साथ दया का पुट भी होना चाहिए। यह उक्ति इसी बात को कहने का एक सामान्य प्रचलित तरीका है कि मानवीय परिणामों पर किसी भी प्रकार का विचार किए बिना काम करने का सिद्धान्त कठोर और अन्ततः **अन्याय-पूर्ण** है। न्याय को अपने-आपमें एक उद्देश्य मान लेना एक प्रकार से साधन की, उससे सिद्ध होने वाले उद्देश्यों की उपेक्षा करके, पूजा करना है। दूसरा उत्तर यह कि न्याय जन-कल्याण का एक बाह्य साधन नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा साधन है जो अपने उद्देश्य के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। कुछ साधन ऐसे भी होते हैं जो अपने परिणामों के घटक अंग होते हैं; जैसेकि स्वर संगीत को पैदा करने के साधन होने के साथ-साथ उसके घटक अंग भी होते हैं अथवा जैसे भोजन शरीर के निर्माण का साधन होने के साथ-साथ उसका अंग भी बन जाता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो जिस चरित्र ने, यानी व्यक्ति ने, न्याय और इन्साफ़ को अपनी अभिवृत्ति (रवैया) का अंग बना लिया है, उसमें न केवल मानवता की भावना होगी, जो उसे सिद्धान्त को कठोरता से लागू करने से बचाएगी, बल्कि किसी स्वल्प-कालीन श्रेयस् की प्राप्ति के लिए उस सिद्धान्त की उपेक्षा के प्रलोभन से भी उसकी रक्षा करेगी। इसका एक मोटा उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। भोजन से स्वास्थ्य-प्राप्ति के नियम हम खाद्य पदार्थों द्वारा की जाने वाली शरीर की सेवा से निर्धारित करते हैं, ये नियम अपने-आपमें कोई अमूर्त उद्देश्य नहीं हैं, फिर भी जब हम एक बार यह भली भाँति समझ लेते हैं कि इन नियमों का इनसे सिद्ध होने वाले उद्देश्यों के साथ क्या सम्बन्ध है, तब हमारा यह ज्ञान हमें भोजन को एक अस्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए उपयोग करने से रोकता है। सन्देह पैदा होने पर हम उन नियमों की शरण ले सकते हैं।

इसके अतिरिक्त इस धारणा में, कि न्याय को कार्यों और जन-कल्याण सम्बन्धी मानसिक अभिवृत्तियों के परिणाम से अलग किया जा सकता है, एक सहज अन्तर्निहित कठिनाई है। यदि हम उसे अलग कर दें तो आदर्श-पैमाने का व्यवहार में मनमाना और तरह-तरह का अर्थ किया जा सकेगा। इसी से कभी-कभी न्याय का अर्थ पूर्ण प्रतिशोध अर्थात् आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत किया जाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त का एक और अर्थ दिया है और उस अर्थ से वह सामाजिक मामलों में पूर्ण 'मुक्त व्यापार' की नीति को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह न्याय के सिद्धान्त का जीव-विज्ञान के कारण-

कार्य सम्बन्ध के सिद्धान्त के साथ, अर्थात् प्राकृतिक चयन और अस्तित्व के संघर्ष में अयोग्य के विलोप के सिद्धान्त के साथ, तादात्म्य स्थापित करता है। उसका कहना है कि 'न्याय' यही है कि जो निकृष्ट हैं वे अपनी निकृष्टता का फल भोगें और जो उत्कृष्ट हैं वे अपनी उत्कृष्टता का लाभ पाएँ। इस प्रकार प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना न्याय के क़ानून को भंग करना है। दूसरे शब्दों में स्पेन्सर न्याय के अमूर्त सिद्धान्त का उपयोग एक चरम व्यक्तिवाद की नीति को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए करता है, ताकि एक प्रतिस्पर्धामय समाज में आत्म-हित या स्वार्थ को 'प्राकृतिक' रूप से खुलकर खेलने दिया जा सके। न्याय की अन्य व्याख्याओं के भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। किन्तु ऊपर दिये गए दो उदाहरणों से ही इस सामान्य धारणा की पूर्ण असत्यता प्रकट हो जानी चाहिए कि न्याय का एक निश्चित अर्थ है। सत्य वास्तव में इसके विपरीत है। मूर्त्त उदाहरणों में न्याय का अर्थ एक ऐसी वस्तु है जिसे निर्धारित करने के लिए यह देखना होगा कि कौन-से परिणाम एक उचित और न्यायपूर्ण तरीके से जन-कल्याण करेंगे।

समाज-कल्याण को अनुमोदन का पैमाना मानने के विरुद्ध एक और आपत्ति भी उठाई जाती है और वह यह है कि यह भावुकता को नैतिकता में बहुत ऊँचा स्थान दे देता है। यही कारण है कि कार्लाइल ने उपयोगितावाद को 'भावुकतापूर्ण निरर्थक बातों का एक विश्वव्यापी पाठ्यक्रम' बताकर उसका उपहास किया है। यह सही है कि व्यापक कल्याण के पैमाने और सहानुभूति के रवैये में काफ़ी नज़दीक का सम्बन्ध है। किन्तु परिणामों को ध्यान में रखने के लिए कहने का अर्थ व्यक्ति को मन में उठनेवाली सहानुभूति और दया की प्रत्येक भावना में बह जाने के लिए प्रोत्साहन देना नहीं है। इसके विपरीत उसका अर्थ यह है कि हमें इन भावनाओं और भावुकताओं में बहकर तब तक कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिए जब तक कि हम यह विचार न कर लें कि जन-कल्याण पर उनका क्या प्रभाव होगा। सहानुभूति की भावना नैतिकता की दृष्टि से अमूल्य है। किन्तु वह ठीक तरह से तभी कार्य करती है जबकि सीधे कार्य के बजाय विमर्श और अन्तर्दृष्टि के सिद्धान्त के रूप में उसका उपयोग किया जाए। बुद्धिमत्तापूर्ण सहानुभूति परिणामों के लिए मनुष्य की चिन्ता को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है। किसी विशिष्ट मामले में न्याय का तकाजा क्या है, यह जानने का सबसे सुनिश्चित तरीका यह है कि हम अपने-आपको दूसरे की जगह पर रखकर देखें, स्थिति को उसके उद्देश्यों और मूल्यों के दृष्टिकोण से नापें, अपने निज के दावों को नीचे उतारकर उस स्तर पर ले आएँ जिस पर वे किसी निष्पक्ष प्रेक्षक की दृष्टि में रहेंगे। भावुकता में असली दोष यह है कि वह दूसरों के कल्याण को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखकर तदनुसार कार्य करने में परिणामों पर विचार नहीं

करती; वह किसी प्रधान भावना पर आधारित आचरण को परिणामों से अधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है।

इसके अतिरिक्त समाज-कल्याण को एक पैमाना बनाने की प्रवृत्ति हमें क़ानूनों, सामाजिक व्यवस्थाओं और शिक्षा से मानवीय सुख और विकास पर पड़नेवाले प्रभाव के प्रति बौद्धिक दृष्टि से संवेदनशील और आलोचक बनाती है। ऐतिहासिक उपयोगिता ने, अपनी सुखवादी मनोवृत्ति की बाधा के बावजूद ग्रेट ब्रिटेन में क़ानून और प्रशासन में असमानताओं को दूर करने और जनता को यह अनुभव कराने में बहुत बड़ा योग दिया कि राजनीतिक अत्याचार और भ्रष्टाचार का जनता के कष्टों के साथ कितना सम्बन्ध है।

नैतिक दृष्टिकोण से सुधार और सुधारक का क्या अर्थ होगा, यह जान लेने पर हमें अनुमोदन के पैमाने की एक अच्छी कसौटी मिल जाएगी। एक अर्थ के अनुसार तो सुधार दूसरों के चाहे बिना उनके मामलों में हस्तक्षेप का पर्यायवाची है; इस अर्थ के मुताबिक लोग यह मानकर चलते हैं कि भावी सुधारक स्वयं दूसरे लोगों की अपेक्षा उनके हित को अच्छी तरह जानते हैं और उनकी कोई बहुत बड़ी भलाई कर सकते हैं। किन्तु 'अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई' के सिद्धान्त का सच्चा अर्थ यह है कि सामाजिक परिस्थितियां ऐसी होनी चाहिए जिनमें एक सामाजिक माध्यम के द्वारा हर आदमी अपने उपक्रम और अभिक्रमशीलता का उपयोग कर सके, जिससे उनकी व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास हो और वे अपने प्रयत्नों का फल पा सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि वह ऐसी निष्पक्ष राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ पैदा करना चाहता है जिनमें अधिकतम लोग 'अपने निज के' प्रयत्न से जीवन के मूल्यों में पूर्ण और उदार हिस्सा बँटा सकें। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दूसरों को बीमारी, शारीरिक अक्षमता और आर्थिक कष्ट आदि के समय सीधी सहायता देने की भी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इस नैतिक पैमाने की मुख्य बात निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होने वाली सामाजिक परिस्थितियाँ पैदा करना है। इस प्रकार यह आदर्श पैमाना सामाजिक परिवर्तन के नाम से किए जाने वाले प्रयत्नों को अहंकार और व्यक्तिगत हस्तक्षेप से बचाता है। वह परोपकार के उद्देश्यों की पूर्ति अवैयक्तिक न्याय के साधन से करता है।

परोपकार और न्याय में बहुधा जो विरोध उठ खड़ा होता है उसका कारण न्याय का बहुत संकीर्ण अर्थ समझना और परोपकार के सम्बन्ध में बहुत भावुकता-पूर्ण अवधारणा बना लेना होता है। यदि हम परोपकार का अर्थ ऐसे काम मान लें, जो क़ानूनी उत्तरदायित्व की आवश्यकताओं से बहुत आगे बढ़ जाएं, और न्याय का अर्थ नैतिक क़ानून का पूर्णतः अक्षरशः पालन मान लें, तो उन दोनों के बीच में निश्चय ही बहुत बड़ी खाई होगी। किन्तु वास्तव में न्याय का क्षेत्र काफ़ी विस्तृत

है; उसमें वे सब परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जो समाज-कल्याण के लिए आवश्यक हैं; और दूसरी ओर दान और परोपकार के नाम से किए जाने वाले बहुत-से काम वास्तव में न्यायपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के अभाव की पूर्ति के लिए कामचलाऊ व्यवस्था होते हैं। न्याय की प्राचीन अवधारणा रोमन क़ानून से ली गई है और उसके स्वरूप में भी वैसा ही आकारिक क़ानूनीपन है। वह अवधारणा यह है, "जिसका जो है, उसे वह दो।" जिसका जो है, इस क़ानूनी संकल्पना से यह अवधारणा एक तरह से बाहरी चीज़ों, भौतिक सम्पत्ति, ख्याति और प्रतिष्ठा और अच्छे चरित्र के कारण आदर आदि तक ही सीमित हो गई है। किन्तु अपने व्यापक अर्थ में यह सूत्र समस्या का समाधान करने के बजाय स्वयं एक समस्या ही खड़ी कर देता है। एक मनुष्य के नाते मनुष्य का प्राप्य क्या है? नैतिक दृष्टि से मनुष्य का जो प्राप्य है उसे कैसे नापा जा सकता है? क्या उसका निर्धारण पारस्परिक विचारों के आधार पर किया जा सकता है? अथवा मनुष्य का प्राप्य क्या उस अवसर से कम है जिससे वह जो कुछ बन सकता है, वह बन सके? कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति सामाजिक नियम का उल्लंघन करता हुआ पकड़ा जाता है। इसके लिए न्याय के अनुसार उसका प्राप्य दण्ड, क्या आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत के सिद्धान्त के अनुसार उसके अपराध के अनुपात में ठीक नपा-तुला होना चाहिए? अथवा उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए जिससे उसे स्वयं अपने नैतिक उत्थान के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा मिले? क्या 'न्याय' व्यक्ति की वर्तमान सामाजिक स्थिति के अनुसार नापा जाना चाहिए या भावी विकास की सम्भावनाओं के अनुसार? इस प्रकार के प्रश्न यह संकेत करते हैं कि सामाजिक उपयोगितावाद को यदि उसकी सुखवादी बाधा से मुक्त कर दिया जाए, तो उसकी दृष्टि में न्याय का अर्थ होगा व्यक्तिगत उत्थान और उपलब्धि के लिए आवश्यक समुचित परिस्थितियाँ पैदा करने की चेष्टा। बुनियादी और निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो उसमें और परोपकार में भेद नहीं किया जा सकता।

### 6. प्रशंसा और निन्दा नैतिक शक्तियों के रूप में

यह बात पहले आनुषंगिक रूप में कही जा चुकी है कि गुण या अच्छाई की धारणा का अनुमोदन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदिम युगीन लोगों के नैतिक नियमों के सम्बन्धों में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि उनमें चरित्र-लक्षणों को उनके सदाचरण होने के कारण अनुमोदित नहीं किया जाता, बल्कि वे अनुमोदित कर दिए जाते हैं, इसलिए वे सदाचरण होते हैं। इसी प्रकार जिन आचरणों की निन्दा की जाती है वे निन्दित होने के कारण ही दुराचरण होते हैं। किन्तु विमर्शात्मक नैतिकता इस क्रम को उलट देती है। वह इस बात का अनुसंधान करने का प्रयत्न करती है कि कौन-से चरित्र लक्षण अनुमोदनीय हैं। वह उसे

सदाचरण नहीं मानती जिसे अनुमोदित किया जा रहा है, बल्कि उसे मानती है जिसे अनुमोदित किया जाना चाहिए, जो अनुमोदनीय है। किन्तु जैसाकि हमने अक्सर देखा है, सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्धारित माने जाने वाले नैतिक नियमों में भी काफ़ी हद तक रूढ़िगत नैतिक नियमों का पुट रहता है। 'रूढ़िगत नैतिकता' ऐसी प्रशंसा और निन्दा की नैतिकता है जो किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग में किसी विशिष्ट काल में प्रचलित मूल्यांकन के नियमों पर आधारित होती है। जो कार्य, कम-से-कम बाहरी तौर पर, प्रचलित व्यवहार के, खासकर ऐसे व्यवहार के, जिसने प्रथा का रूप धारण कर लिया है, अनुसार होता है, उसका अनुमोदन कर दिया जाता है या कम-से-कम उसकी निन्दा नहीं की जाती। और जो काम इस प्रचलित व्यवहार से विचलित हो जाता है, उसे करनेवाला निन्दा का पात्र होता है। इसका क्रियात्मक परिणाम होता है नकारी यानी अभावात्मक नैतिकता। सद्‌गुण का अर्थ वह आचरण समझा जाता है जिसका आदर किया जा सके और आदरणीय आचरण वह है जिसकी खुले तौर पर निन्दा या आलोचना नहीं की जाती है; आदरणीय आचरण की कसौटी उसकी आन्तरिक रूप से आदरणीयता नहीं होती। इसलिए बहुसंख्यक लोगों की दृष्टि में नैतिक आदर्श वह व्यवहार होता है जो प्रतिकूल आलोचना से बचा रहे; जैसे बच्चा उसी काम को 'ठीक' समझता है जिस पर उसे डाँट न पड़े।

इसलिए यहाँ हमें नैतिक नियमों में प्रशंसा और निन्दा के स्थान और कार्य के प्रश्न पर, जिसका हमने पहले उल्लेख-मात्र किया था, विचार करना चाहिए।

प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्रशंसा और निन्दा के रूढ़िगत उपयोग पर विचार करने से भी हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि प्रशंसा और निन्दा ही नैतिकता के प्रमुख तत्त्व हैं; फ़र्क इससे सिर्फ इतना ही पड़ेगा कि उनके लिए एक निश्चित पैमाना मिल जाएगा। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। विचार-विमर्श प्रशंसा और निन्दा के स्वरूप और उसके उपयोग को बदल देता है। प्रशंसा और निन्दा से प्रशंसित या निन्दित व्यक्ति का ध्यान इस बात पर जम जाता है कि वह किस प्रकार लोगों से प्रशंसा पा सकता है और निन्दा से बच सकता है। इसलिए उनका परिणाम यह होता है कि वे मनुष्य का ध्यान उन कारणों की ओर से हटाती हैं जिनसे कोई काम **प्रशंसनीय** या **निन्दनीय** बनता है। जब आदमी को प्रशंसा या निन्दा सुनने की आदत पड़ जाती है तब वह यह सोचने लगता है कि वह निन्दा या आरोपों से कैसे बच सकता है और कैसे लोगों की प्रशंसा प्राप्त कर सकता है। जो नैतिकता निन्दा को बहुत महत्त्व देती है वह मनुष्य में उससे अपना बचाव करने या अपनी सफाई देने का रवैया पैदा कर देती है। निन्दित व्यक्ति यह सोचने के बजाय, कि कौन-से काम ऐसे हैं जो उसे करने चाहिए, अपने बुरे कामों के लिए बहाने खोजने लगता है। इसके अलावा इससे मनुष्य का ध्यान

परिस्थितियों और कारणों के पक्षपात-रहित अध्ययन की ओर से हटता है, क्योंकि वह दोष दूसरों के सिर मढ़कर अपने-आपको उनसे बचाना चाहता है। मनुष्य अपने ऊपर लगाये गए आरोपों को दूसरों के सिर मढ़कर उससे अपने-आपको बचा लेता है। जिन लोगों में कुछ दृढ़ता होती है उनमें निन्दा से रोष पैदा हो जाता है और कभी-कभी वह इतना अधिक होता है कि वे यह समझने लगते हैं कि उन्होंने सब आप्त लोगों की अवहेलना करके बहादुरी का काम किया है। कुछ लोगों में उदासीनता की भावना पैदा हो जाती है। वे सोचने लगते हैं कि "क्या फ़ायदा है? मैं कुछ भी करूँ निन्दा का पात्र तो मुझे होना ही पड़ेगा।"

किन्तु विमर्शात्मक नैतिकता प्रशंसा और निन्दा को वहीं छोड़ देती है जहाँ वे हैं, सिर्फ उनके नीचे एक तर्कसंगत बुनियाद लगाने के लिए वह इस बात पर बल देती है कि आचरण की एक पूर्वग्रहरहित और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से छान-बीन की जाए, उसके कारणों और परिणामों का अध्ययन किया जाए। वांछनीय यह है कि हर व्यक्ति स्वयं यह देखे कि वह क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है; उसके काम के वास्तविक परिणाम क्या हैं और उसने किन परिणामों की आशा की थी; और इस प्रकार उन शक्तियों का अध्ययन करे जिन्होंने उसे वह काम उस ढंग से करने के लिए मजबूर किया। फलतः प्रशंसा और निन्दा अपने-आपमें आखिरी चीज़ नहीं रहती। बल्कि उन पर भी एक पैमाने से नापकर फैसला किया जाता है। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रशंसा और निन्दा पर आधृत नैतिकता का आज भी प्रचलन यह बताता है कि रूढ़िगत और पारम्परिक ताक़तें आज भी नैतिकता को किस हद तक प्रभावित करती हैं, और आज की नैतिकता नाम-मात्र को ही विमर्शात्मक है। आज हमारे पास जो विमर्शात्मक पैमाना है, वह प्रशंसा और निन्दा को एक नियन्त्रण में रखता और निर्देशित करता है, और ऐसा वह अन्य मानवीय प्रवृत्तियों के उपयोग के साथ भी करता है। वह लोगों को यह अनुभव कराता है कि पुरस्कार और दंड, प्रशंसा और निन्दा अपने परिणामों के अनुसार ही अच्छे या बुरे होते हैं और उनका उपयोग अनैतिक भी हो सकता है और सहायक भी।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि सदाचरण और दुराचरण समझे जानेवाले लक्षणों का मूल, उद्गम प्रतिवर्तात्मक है। प्रारम्भ में ये चरित्र-लक्षण गुण और अवगुण अर्थात् अर्हता की धारणा के आधार पर ग्रहण किए जाते हैं और किसी काम की अर्हता का निश्चय दूसरों की प्रतिक्रिया के आधार पर होती है। दूसरे लोग ही किसी चरित्र-लक्षण का अनुमोदन या अननुमोदन कर उसे सम्मान या आदर के योग्य बनाते हैं। इस कारण से नैतिक नियमों में, जहाँ तक कि उन पर रूढ़ियों का प्रभुत्व है, सदाचरण और दुराचरण किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग की शासक संस्थाओं और आदतों के साथ सह-सम्बन्ध से बँधे हुए हैं। यह बात पहले कही

जा चुकी है। सामाजिक वर्गों के सदस्यों को इस बात का प्रशिक्षण मिला होता है कि जो काम उनके बँधे-बँधाए प्रचलित तरीकों के अनुसार है, उसकी प्रशंसा की जाए। यही कारण है कि विभिन्न सभ्यताओं में आचरण के मूल्यांकन की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उनमें जो सामान्य तत्त्व है, वह महज औपचारिक है, बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं। वह तत्त्व है प्रचलित रूढ़ियों का अनुपालन। **क़ानून** वास्तव में ही 'सबका राजा' है, और ख़ासकर उन कार्यों और चरित्र-लक्षणों का जो सदाचरण और दुराचरण समझे जाते हैं।

इसलिए एक ऐसे **आदर्श पैमाने** को खोजने का प्रयत्न, जिसके आधार पर अनुमोदन और अननुमोदन, आदर और अनादर किए जाने **चाहिए** सदाचरण-दुराचरण और पाप-पुण्य की समूची अवधारणा पर सर्वथा क्रान्तिकारी प्रभाव डालता है। कारण, इस प्रयत्न का अर्थ है मूल्यांकन की प्रचलित आदतों की **आलोचना**। पैमाने का विचार ही **बौद्धिक** है। उसका अर्थ ही एक ऐसी वस्तु है जो सर्वत्र लागू की जा सके। इससे कुछ किस्मों के आचरण के लिए पसन्द और कुछ के लिए नापसन्द का भाव उन्मूलित नहीं होता। किन्तु यही पसन्द और नापसन्द एक ऐसी वस्तु के द्वारा, जो उनसे परे है, नियन्त्रित होती है। रूढ़िगत नैतिकता स्वभावत: उन लोगों के लिए मुश्किलें पैदा कर देती है, जो उसके नियमों की अवहेलना करते हैं और उनके लिए सुविधा कर देती है, जो उसका पालन करते हैं। जिस ढंग से पसन्द या नापसन्द जाहिर की जाती है, उसके लिए विमर्शात्मक पैमाना व्यक्तियों को ही ज़िम्मेदार ठहराता है। वह इस तथ्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है कि जब हम किसी कार्य के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं, अर्थात् उसकी निन्दा या प्रशंसा करते हैं तब हम एक प्रकार से अपने ही बारे में निर्णय करते हैं। अर्थात् अपनी ही रुचियों और इच्छाओं को प्रगट करते हैं। अनुमोदन और अननुमोदन, कामों के साथ सदाचरण-दुराचरण या पाप-पुण्य को जोड़ना अपने-आपमें सदाचरण-दुराचरण या पाप-पुण्य बन जाता है।

### 7. विमर्शात्मक नैतिकता में सदाचरण का स्थान

रूढ़िगत नैतिकता में दुराचरणों और सदाचरणों की एक सूची तैयार करना सम्भव है। कारण, सदाचरण किसी निश्चित वर्तमान रूढ़ि को प्रतिबिम्बित करता है और दुराचरण का अर्थ है किसी रूढ़ि से विचलित होना या उसका उल्लंघन करना। इस प्रकार अनुमोदित और निन्दित कार्यों में भी वैसी ही सुनिश्चितता होती है, जैसीकि उन रूढ़ियों में जिनकी ओर वे संकेत करते हैं। विमर्शात्मक नैतिकता में सदाचारों की सूची कहीं अधिक अस्थायी होती है। शुचिता, दयालुता, ईमानदारी, देशभक्ति, नम्रता, सहिष्णुता और वीरता आदि का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें से हर गुण उन वस्तुओं और प्रथाओं में रुचि प्रदर्शित

करता है, जो बदल रही हैं। आकारिक दृष्टि से, रुचि के रूप में, वे स्थायी हो सकते हैं, क्योंकि कोई भी समाज तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसमें ईमानदारी, सार्वजनिक भावना, जीवन के प्रति आदर और दूसरों के प्रति वफ़ादारी न हो। किन्तु कोई-से भी दो समाज आपको ऐसे नहीं मिलेंगे, जिनकी इन गुणों के सम्बन्ध में बिलकुल एक-जैसी धारणाएँ हों। इसलिए इन गुणों की व्याख्या उन **विशेषताओं** के आधार पर ही की जा सकती है, **जो उन रुचियों में पाई जाती हैं**, न कि उन स्थायी और एक-जैसी वस्तुओं के आधार पर, जिनमें रुचि ली जाती है। यह बात संयम और शुचिता के बारे में भी उतनी ही सही है जितनी कि जीवन के प्रति आदर के बारे में, हालाँकि कुछ समाजों में छोटी बालिकाओं और वृद्धों के जीवन की कोई चिन्ता नहीं की जाती और सभी ऐतिहासिक समाजों में शत्रु समाजों के साथ युद्ध जीवन के प्रति इस सम्मान और चिन्ता को सीमित कर देता है।

इसलिए सदाचरण की चर्चा करते हुए हम यहाँ उन लक्षणों का वर्णन करेंगे, जिनके बिना कोई भी अभिवृत्ति सही अर्थों में रुचि नहीं बन सकती। इस सिलसिले में हम सदाचरणों का अभिवृत्ति से पृथक् सत्ताओं के रूप में उल्लेख नहीं करेंगे।

(1) **रुचि सम्पूर्ण हृदय से अर्थात् हार्दिक होनी चाहिए।** सदाचरण सत्यनिष्ठा है, दुराचरण द्वैधता या धोखेबाजी। इसी गुण के लिए दूसरा नाम गम्भीरता है, क्योंकि यह नाम बताता है कि किसी वस्तु के प्रति निष्ठा अमिश्रित और अविरल है। इस गुण का क्षेत्र प्रथम दृष्टि में भले ही छोटा प्रतीत होता हो किन्तु वास्तव में व्यापक है।

चेतन कपट बहुत कम पाया जाता है। विभक्त और असंगत रुचि आम चीज़ है। ऐसी निष्ठा पैदा करना, जो पूर्ण, निरपवाद और बिना शर्त हो, बहुत कठिन है। जब हम किसी ऐसे काम में अपने-आपको लगा देते हैं, जो हमें प्रिय और अनुकूल लगता है तब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि हम सम्पूर्ण हृदय से ऐसा कर रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जब बाधाएँ पैदा होती हैं तब हम उस काम में रुचि छोड़ देते हैं या किसी असंगत रुचि के अनुसार काम करने लगते हैं। तात्कालिक उत्साह या लगन और हार्दिकता एक ही चीज़ नहीं हैं। हार्दिकता में भी भावुकता होती है, परन्तु वह एक के बाद एक सतत रूप में आनेवाली कुछ वस्तुओं में, जिनमें हम उत्सुकता से अपने-आपको लगा देते हैं, क्रमशः दीख पड़ने वाली भावुकता से भिन्न चीज़ है, चाहे यह क्रमिक भावुकता कितनी भी तीव्र हो। कारण, हार्दिकता के लिए संगतता, सातत्य और प्रयोजन और प्रयत्न का ऐक्य होना ज़रूरी है। और यह शर्त तब तक पूरी नहीं हो सकती, तब तक कि एक के बाद एक क्रम से आनेवाली विभिन्न वस्तुओं और उद्देश्यों में उनकी प्रकृति और प्रभाव पर विचार करके क्रम और ऐक्य स्थापित न कर लिया जाए। जब तक हम एक अर्थात् द्विधारहित मन से काम न करें तब तक हम सही अर्थों में हार्दिक नहीं हो सकते।

(2) इसलिए जो रुचि किसी प्रवृत्ति को सदाचरणात्मक बनाती है, वह सतत और **आग्रही** होनी चाहिए। जैसे एक चिड़िया के आ जाने से ग्रीष्म ऋतु नहीं आ जाती, वैसे ही एक स्वल्पकालावस्थायी मन्द रुचि से ही, चाहे वह कितनी भी प्रबल हो, सदाचरण का निर्माण नहीं हो सकता। सिर्फ अनुकूल मौका देखकर अपने मतलब के अनुसार किया गया सदाचरण परिस्थितता का द्योतक है, इसीलिए उसका सम्मान नहीं किया जाता। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दृढ़ता से जमे रहने के लिए चरित्र की आवश्यकता है। जब दूसरों की दुर्भावना या ईर्ष्या-द्वेष का पात्र बनने की आशंका हो या जब बाधाओं पर विजय पाने के लिए असाधारण शक्ति की आवश्यकता हो, उस समय भी जो व्यक्ति डटा रह सके वही चरित्रवान् है। विचार-विमर्शपूर्वक अनुमोदित कार्य में हमारी रुचि कितनी **प्रबल** है, इसकी परीक्षा प्रतिकूल परिस्थितियों में दृढ़ता से डटे रहने पर ही होती है।

(3) पूर्ण रुचि **निष्पक्ष**, अखण्ड और स्थायी होनी चाहिए। जो चरित्र विचार-विमर्श से नहीं बनता और पुष्ट नहीं होता, उसकी रुचि पक्षपातपूर्ण और आंशिक होती है और उस अर्थ में वह विभक्त और गम्भीरताहीन भी होता है, भले ही उसमें गम्भीरता का अभाव बिलकुल अचेतन रूप से विद्यमान हो। मनुष्य अपने मित्रों और कुटुम्बियों के कल्याण में रुचि प्रदर्शित करने के लिए उद्यत हो जाता है, और जिनके साथ कृतज्ञता या प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है उनके प्रति उसमें उदासीनता की प्रवृत्ति रहती है। अपने राष्ट्र के लोगों के प्रति रुचि निर्धारित करने के लिए एक पैमाना और दूसरी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के लोगों के प्रति रुचि के लिए सर्वथा भिन्न पैमाना बनाना बहुत आसान है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी रुचि विकसित करना, जिसमें मनुष्य सबको समान अनुभूति से और समान दृष्टि से देख सके, असम्भव है; अर्थात् यह कहना कि कोई व्यक्ति अपने से दूरवर्ती लोगों में भी जिनके साथ उसका बहुत कम सम्बन्ध है, **वैसी ही** रुचि लेता है, जैसी कि अपने निकटवर्तियों में, जिनसे उसका हमेशा सम्पर्क रहता है, एक मिथ्या दावा है। किन्तु रुचि की न्याय्यता या निष्पक्षता उसी तरह मात्रात्मक नहीं, गुणात्मक वस्तु है, जैसेकि अन्याय्यता या पक्षपात किसी वस्तु के बारे में विवेक या निर्णय की न्यूनता या अधिकता (मात्रा) को नहीं, बल्कि असमानता (गुण) को सूचित करते हैं। न्याय्यता का तकाजा है कि **जब** मनुष्य को दूसरों के साथ सम्बन्ध के आधार पर कोई कार्य करना पड़ता है, चाहे वे मित्र हों या पराये, अपने देशवासी हों या विदेशी, उसे दूसरों के हितों पर विचार करने के लिए मूल्यांकन का एक ही पैमाना रखना चाहिए। एक तात्कालिक या भावनात्मक अर्थ की दृष्टि से सोचें तो यह सम्भव नहीं है कि मनुष्य अपने दुश्मनों से भी उसी तरह प्रेम कर सके, जैसे अपने मित्रों से करता है। किन्तु शत्रु के साथ भी मित्र की भाँति प्रेम करने के उपदेश का अर्थ यह है कि हमें अपने आचरण में उनके हितों को भी उसी दृष्टि से

देखना चाहिए जिससे हम अपने निज के हित को देखते हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे हमें दूसरों के सुख पर अपने कामों के प्रभाव को नापना चाहिए।

यदि हम प्रयोजन की एकाग्रता या एकचित्तता का सम्बन्ध रुचि की व्यापकता और निष्पक्षता से न जोड़ें तो वह संकीर्ण हो जाएगी। अनुमोदित लक्ष्यों में बुनियादी तौर पर और पूर्ण रूप से रुचि लेना ही सदाचरण है, यह मान्यता हमें सिर्फ यह मानने की प्रवृत्ति से ही नहीं बचाती है कि किसी खास समूह या समाज में परम्परा से जो काम अच्छा माना जाता रहा है और अब भी अच्छा माना जाता है, वही सदाचरण है; बल्कि वह हमें विभिन्न सदाचरणों को एक-दूसरे से अलग करने की प्रवृत्ति से भी बचाती है। सदाचरणों का यह पृथक्करण अवास्तविक है। विभिन्न सदा चरणोंकी सूचीबनाने का अर्थ यह मान लेना है कि उन्हें एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग किया और रखा जा सकता है। परन्तु वास्तव में सब सदाचरण एक-दूसरे के साथ अविभाज्य रूप से मिले हुए हैं। चरित्र की अखंडता के विचार में ही यह एकता सन्निहित है। एक समय ऐसा आता है जबकि बाधाओं में भी दृढ़ता से सौथ जमे रहना चरित्र की मुख्य विशेषता हो जाती है, उस समय उस गुण को हम साहस का नाम देते हैं। इसी तरह एक ऐसा वक्त आता है जबकि निष्पक्षता और न्याय्यता चरित्र का मुख्य लक्षण दीख पड़ते हैं तब हम उस गुण को न्याय का नाम देते हैं। इसी प्रकार किसी समय किसी प्रबल क्षुधा या इच्छा की तात्कालिक परितुष्टि का व्यापक भलाई के समक्ष दमन चरित्र का प्रधान लक्षण होता है। उस समय उस प्रवृत्ति को संयम और आत्मनिग्रह कहा जाता है। जिस समय अन्य गुणों को अमल में लाने के लिए विचार और सतत ध्यान की आवश्यकता चरित्र का प्रमुख पहलू बन जाती है तब हम उसे नैतिक बुद्धिमत्ता, अन्तर्दृष्टि या अन्तर्भावनाशीलता कहते हैं। इनमें से हर अवस्था में चरित्र एक ही है, अन्तर सिर्फ उसके किसी विशेष पहलू पर बल का है।

यह तथ्य सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह धारणा, कि सदाचरणों को एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है, जब अमल में लाई जाती है, तब उससे मनुष्य के क्रिया-कलापों में संकीर्णता और कठोरता आ जाती है और उससे बहुत-से लोग यह समझने लगते हैं कि समस्त नैतिकता एक नकारी और प्रतिबन्धात्मक वस्तु है। उदाहरण के लिए जब संयम या आत्मनिग्रह को एक स्वतन्त्र वस्तु का रूप दिया जाता है तब वह निरी वर्जना एवं अप्रिय निग्रह बन जाता है। किन्तु एक परस्पर-संश्लिष्ट सम्पूर्ण के एक पहलू के रूप में वह एक भावात्मक और सकारी सामंजस्य होता है जो अखंड रुचि का एक लक्षण है। क्या न्याय को हम एक सर्वथा पृथक् सद्गुण के रूप में देखते हैं? यदि इसका उत्तर हाँ है, तो उस दशा में वह एक यान्त्रिक और मात्रात्मक आकार ग्रहण कर लेता है, जैसे नपी-तुली प्रशंसा और निन्दा या पुरस्कार और दण्ड। न्याय को एक अमूर्त-

और अवैयक्तिक क़ानून को सत्य सिद्ध करने के साधन के रूप में भी देखा जाता है—किन्तु न्याय के सम्बन्ध में यह रवैया हमेशा लोगों को प्रतिशोधकारी बनाता है और उससे उनमें अपनी कठोरता को भी एक गुण सिद्ध करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। साहस का जो अर्थ आज हम समझते हैं उसमें शत्रु का मुकाबला करने की दृढ़ता की मूल कल्पना अब भी जुड़ी हुई है। ग्रीक लोगों ने इस मूल कल्पना का और विस्तार कर दिया और इस प्रकार साहस का अर्थ उन सब वस्तुओं को सहन करना हो गया, जिनसे घबराकर सामान्य आदमी परे भागना चाहता है। ज्योंही हम यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी प्रयोजन को क़ायम रखने और क्रियान्वित करने में ऐसा सातत्य नहीं हो सकता, जिसमें कभी भी अप्रिय कठिनाइयाँ या बाधाएँ न आएँ, तब हम परोक्ष रूप में यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि साहस कोई पृथक् गुण नहीं है। इसका क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी कि उस भावात्मक और सकारी रुचि की पूर्णता, जो कठिनाइयों के बावजूद हमें उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रेरित करती है, जिसमें हमारी दिलचस्पी है। ऐसा न हो तो साहस महज़ एक निराशापूर्ण और निषेधात्मक प्रतिरोध रह जाएगा; तब वह एक सक्रिय गण के बजाय एक निष्क्रिय गुण हो जाएगा।

अन्तिम बात यह है कि अन्तर्भावनाशीलता को कभी-कभी ऐसा समझ लिया जाता है मानो वह मनुष्य की अपनी सदाचरण या धर्म की स्थिति के सम्बन्ध में एक रुग्ण और विकारग्रस्त चिन्ता हो। वह एक प्रकार का उदात्तीकृत अहंकार भी हो सकती है, क्योंकि अन्तर्भावनाशील व्यक्ति अपने सारे विचार को अपने ही ऊपर केन्द्रित कर देता है। यह ठीक है कि उसका यह आत्मकेन्द्रीकरण अपने व्यक्तिगत सुख या सांसारिक लाभ के बजाय अपनी 'अच्छाई' के लिए होता है तो भी उसके अहंकारी स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता। कुछ मामलों में अन्तर्भावनाशीलता का अर्थ एक सचिन्त धर्मभीरुता भी हो सकता है और मनुष्य ग़लती करने से इतना अधिक डरता है कि वह कोई भी ठोस काम करने में हिचकता है। अच्छाई की चिन्ता वास्तव में ग़लती से बचने की चिन्ता बन जाती है और यह नकारी चिन्ता इतनी प्रबल होती है कि मनुष्य की क्रियाशीलता को कुण्ठित कर देती है। जो शक्ति काम में लगनी चाहिए वह काम के प्रयोजन की छानबीन करने में लग जाती है। अन्तर्भावना और नैतिक विचार-विमर्श ज्योंही साहस से पृथक् कर दिए जाते हैं, त्योंही वे हमें कायर बना देते हैं।

सदाचरणों को एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् मानने का एक बुरा परिणाम यह होता है कि मनुष्य एक-एक गुण को अलग-अलग विकसित करने का प्रयत्न करता है और एक सर्वग्राही और व्यापक चरित्र के विकास की कोशिश नहीं करता। किन्तु पुरानी परम्परागत शिक्षाओं में ऐसी बहुत-सी उक्तियाँ हैं जो यह स्मरण कराती हैं कि चरित्र या सदाचरण एक समग्र और अखण्ड वस्तु है। ऐसी ही एक

उक्ति यह है—'प्रेम क़ानून की अन्तिम चरम परिणति है।' कारण, आचारणशास्त्र की परिभाषा के अनुसार प्रेम का अर्थ अच्छे समझे जाने वाले लक्ष्यों के प्रति निष्ठा की पूर्णता है। इस प्रकार की निष्ठा, रुचि या प्रेम संयम के बिना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि एक व्यापक रुचि के लिए सामंजस्य की आवश्यकता होती है, जो कुछ ख़ास आवेगों और आवेशों का दमन करके ही प्राप्त किया जा सकता है। इसमें साहस भी अन्तर्निहित रहता है, क्योंकि सक्रिय और सच्ची रुचि हमें उन बाधाओं का मुकाबला करने और उन पर विजय पाने के लिए हिम्मत देती है, जो उसकी पूर्ति में रुकावट डालतीं हैं। उसमें बुद्धिमत्ता और विचारशीलता भी सम्मिलित है, क्योंकि सहानुभूति और आचरण से प्रभावित समस्त व्यक्तियों के कल्याण की **चिन्ता** विचार के लिए, किसी प्रस्तावित आचरण के समस्त पहलुओं की परीक्षा के लिए, सुनिश्चिततम गारंटी है। और इस प्रकार की पूर्ण रुचि लेने से ही न्याय पर पूरा भरोसा किया जा सकता है। कारण यह कि इस प्रकार की पूर्ण रुचि में जनसाधारण के कल्याण को प्रभावित करनेवाली समस्त परिस्थितियों के लिए, चाहें वे कोई विशिष्ट अधिनियम हों, क़ानून हों, आर्थिक व्यवस्थाएँ या राजनीतिक संस्थाएँ अथवा कुछ भी हों निष्पक्ष चिन्ता भी समाविष्ट रहती है।

श्रेयस् और कर्त्तव्य दोनों के सम्बन्ध में हम विभिन्न सामाजिक परिवेशों के नैतिक प्रभाव को देख चुके हैं। वही सिद्धान्त आचरण की परीक्षा और सद्गुण और दुर्गुण के निर्धारण के लिए एक पैमाना निर्धारित करने में अनुमोदन के उपयोग पर भी उतना ही, बल्कि उससे ज़्यादा स्पष्ट रूप में लागू किया जा सकता है। जैसाकि हमने अनेक अवसरों पर कहा है, हर समाज में उसी काम को अनुमोदित करने की प्रवृत्ति रहती है, जिसे वह व्यावहारिक रूप में महत्त्वपूर्ण समझता है। कुछ कार्य प्रबल सामाजिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध होने पर भी सैद्धान्तिक रूप से अनुमोदित किए जाते हैं, किन्तु यह अनुमोदन केवल नाम-मात्र का ही होता है। हमारा वर्तमान समाज सिद्धान्तों और शाब्दिक शिक्षाओं के मामले में एक महान् आदर्शवादी परम्परा का उत्तराधिकारी है। धर्म तथा अन्य स्रोतों के द्वारा पड़ोसी के प्रति प्रेम, यथोचित न्याय, कार्य और निर्णय में दयालुता की शिक्षा दी जाती है और सिद्धान्ततः उसको स्वीकार भी किया जाता है। किन्तु समाज की रचना अन्य गुणों पर ज़ोर देती है। 'व्यवसाय' अधिकतर लोगों के जीवन के बहुत बड़े भाग पर अधिकार किए रखता है और वह निजी व्यक्तिगत लाभ के लिए क्रूर प्रति-स्पर्धा की भावना से किया जाता है। राष्ट्रीय जीवन संकीर्ण आत्महित के आधार पर संगठित किया जाता है और फलतः अन्य राष्ट्रों के प्रति सन्देह, भय और बहुधा घृणा तक को पैदा करता है। संसार वर्गों और जातियों में बँट जाता है और राष्ट्र चाहे सिद्धान्त के रूप में कुछ भी स्वीकार करें, मूल्यांकन के पैमाने उस वर्ग, जाति या रंग के आधार पर ही बनाए जाते हैं, जिसके साथ व्यक्ति का सम्बन्ध होता

है। व्यक्तिगत नैतिकता में हम जो विचार स्वीकार करते हैं, सामूहिक आचरण में वे अस्वीकार कर दिए जाते हैं और इसी प्रकार विशुद्ध व्यक्तिगत रूप से लागू किए जाने के समय भी वे कमज़ोर पड़ जाते है। उन्हें व्यवहार में पूरी तरह तभी अपनाया और क्रियान्वित किया जा सकता है, जबकि उन्हें व्यापक बना दिया जाए और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का पुनर्निर्माण भी उनमें समाविष्ट कर दिया जाए।

# नैतिक विवेक और ज्ञान

## 1. अन्तर्ज्ञानात्मक या विकसित नैतिक विवेक

विमर्शात्मक नैतिकता के विभृष्ट होने के कारण यह बात स्वत:सिद्ध है कि उसके साथ चिन्तन और ज्ञान का अनिवार्य सम्बन्ध है। किन्तु यह स्वत:सिद्ध सत्य सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े कर देता है। ज्ञान का, उसके नैतिक अर्थ में, स्वरूप क्या है ? उसकी क्रिया क्या है ? वह कैसे पैदा होता है और कैसे कार्य करता है ? नैतिक आचार विषयक लेखकों ने इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। उदाहरण के लिए जिन लोगों ने इस सिद्धान्त का विवेचन किया है कि अनुमोदन या विरोध ही नैतिकता और अनैतिकता का आधारभूत उपादान है, उन्होंने ज्ञान के स्वतोभावी और 'सहजवृत्तिक' स्वरूप पर—अर्थात् उसके अविमर्शी रूप पर बल दिया है और नैतिक आचार में बौद्धिक उपादान को गौण स्थान दिया है। काण्ट आदि जिन लोगों ने कर्त्तव्य के प्रामाण्य को ही सर्वोच्च माना है उन्होंने नैतिक तर्क को सामान्य जीवन और विज्ञान में दृष्टिगोचर होने वाले चिन्तन और तर्क से भिन्न रूप में स्वीकार किया है। नैतिक तर्क उनके मत में एक ऐसी अनन्य मन:शक्ति है जिसका एकमात्र कार्य हमें अपने कर्त्तव्य का बोध कराना और साथ ही यह प्रतीति कराना है कि कर्त्तव्य ही हमारे आचरण का अपरिहार्य और उचित नियामक है। इसके विपरीत जिन नीतिकारों ने श्रेयस् और काम्य उद्देश्यों में तादात्म्य माना है, उन्होंने ज्ञान को स्थायी सन्तोष पैदा करने वाले उद्देश्यों की अन्तर्दृष्टि के अर्थ में, आचरण में, सर्वोच्च स्थान दिया है। जैसा कि प्लेटो ने कहा है, अज्ञान ही सब बुराइयों का मूल है। किन्तु फिर भी एक प्लेटो के अनुसार सच्चे उद्देश्य और श्रेयस् की इस सुनिश्चित अन्तर्दृष्टि में भी एक प्रकार का तर्कपूर्ण विवेक अन्तर्निहित है, जो जीवन के सामान्य कर्मों से सम्बद्ध तार्किक विवेक से भिन्न है। यह अन्तर्दृष्टि कुछ थोड़े-से लोग ही पा सकते हैं, जिनमें विश्व की आदि रचना का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की विशिष्ट क्षमता है। शेष लोगों को वह ज्ञान आप्तों के वचन पर विश्वास करके या कानूनों और प्रचलित रूढ़ियों के द्वारा परोक्ष रूप में ग्रहण करना पड़ता है। इन मतभेदों से सम्बद्ध समस्त गुह्य समस्याओं के विवेचन में पड़े बिना हम कह सकते हैं कि इससे दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि क्या विचार और ज्ञान भावना के अनुचर और दास मात्र हैं, या वे उस पर कोई ठोस और रूपान्तरकारी प्रभाव भी डाल सकते हैं ? दूसरा यह कि क्या नैतिक मामलों के सम्बन्ध में प्रयुक्त किए जाने वाले चिन्तन और विवेक सामान्य व्यवहार के मामलों में प्रयुक्त चिन्तन और विवेक के ही सदृश होते हैं या

वे उनसे सर्वथा पृथक् किस्म के हैं, जिनका महत्त्व विशुद्ध रूप से नैतिक ही है ? उन्नीसवीं शताब्दी में इस विषय की चर्चाओं में इस प्रश्न का रूप इस प्रकार था क्या अन्तर्भावना एक ऐसी अन्तर्ज्ञान की मनःशक्ति है जो मानवीय अनुभव से बिलकुल स्वतन्त्र है या वह अनुभव की ही उपज और अभिव्यक्ति है ?

ये प्रश्न सैद्धान्तिक रूप में ऊपर प्रस्तुत किये गए हैं। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से भी उनका बहुत महत्त्व है। उदाहरण के लिए इन प्रश्नों का सम्बन्ध पिछले अध्याय में विवेचित प्रश्न से है। क्या यह ठीक है कि स्तुति और निन्दा, आदर और तिरस्कार केवल मौलिक और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्तियाँ ही नहीं हैं, बल्कि वे ऐसी **अन्त्य** प्रवृत्तियाँ भी हैं जिनमें आलोचनात्मक और रचनात्मक विचार से भी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता ? इसके अतिरिक्त, यदि अन्तःकरण या अन्तर्भावना एक अद्वितीय और सर्वथा पृथक् मनःशक्ति है तो उसे किसी भी प्रकार प्रशिक्षित और परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसे सीधा आकर्षित ही किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुछ सिद्धान्तों में, उदाहरणार्थ काण्ट के सिद्धान्त में, नैतिक व्यवहार को सामान्य दैनिक जीवन के व्यवहार से, जो नैतिक दृष्टि से उदासीन और तटस्थ होता है, बिलकुल भिन्न माना गया है।

वास्तविक व्यवहार की दृष्टि से इससे अधिक महत्त्वपूर्ण शायद ही कोई प्रश्न हो कि क्या नैतिक क्षेत्र शेष मानवीय कार्यकलापों से बिलकुल अलग है ? क्या मानवीय उद्देश्यों और सम्बन्धों के एक विशिष्ट वर्ग का ही नैतिक मूल्य है ? यदि हम यह मानते हैं कि हमारी नैतिक चेतना और ज्ञान एक सर्वथा भिन्न और अद्वितीय किस्म की चेतना और ज्ञान हैं, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। किन्तु यदि यह मान लिया जाए कि नैतिक चेतना अलग चीज़ नहीं है तो मनुष्य के आचरण में नैतिक और अनैतिक क्षेत्रों को अलग करने वाली विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। पूर्व अध्यायों में हमने जो कुछ भी विचार और चर्चा की है वह इस पिछले दृष्टिकोण से ही बँधी हुई है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार वे सब उद्देश्य और प्रवृत्तियाँ, जो हमारी स्वाभाविक इच्छाओं और परिवार, पड़ोस और समाज में हमारे सामान्य पारस्परिक सम्बन्धों से उद्भूत होती हैं, नैतिक दृष्टि से अच्छी और उत्तम हैं। फलतः अब हम अपने निष्कर्षों की कुछ अन्य विशिष्ट सिद्धान्तों में निकाले गए निष्कर्षों से तुलना कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि इस विचार का नैतिक अन्तर्दृष्टि के स्वरूप से क्या सम्बन्ध है।

इसमें सन्देह नहीं कि नैतिक निर्णय **मूल्य सम्बन्धी** निर्णय हैं, फिर चाहे वे और कुछ भी हों। जब हम नैतिक विवेक और निर्णय से काम लेते हैं तब हमारे कार्य और चरित्र-लक्षणों का कुछ **मूल्य** हो जाता है, चाहे वह भावात्मक (साकारी) हो और चाहे निषेधात्मक (नकारी) मूल्य सम्बन्धी निर्णय केवल।

उन्हीं विषयों तक सीमित नहीं हैं जिनका कोई नैतिक महत्त्व है। कविताओं, चित्रों और प्राकृतिक दृश्यों का उनके सौन्दर्य की दृष्टि से जो मूल्यांकन हम करते हैं वह मूल्य सम्बन्धी निर्णय ही होता है। व्यापारी लोगों का मूल्यांकन उधार देने के लिए उनकी आर्थिक क्षमता आदि की दृष्टि से किया जाता है। मौसम के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से तापमापी या वायुदाबमापी उपकरणों द्वारा किये गए मापों की परिभाषाओं में जो सर्वथा बाह्य विवरण हमें दिए जाते हैं हम उन्हीं से सन्तुष्ट नहीं हो जाते, बल्कि हम उसे सुहावना या खराब आदि विशेषणों से प्रकट करते हैं जिनसे मौसम के सम्बन्ध में हमारे मूल्यांकन की अभिव्यक्ति होती है। फरनीचर को हम उपयोगी, आरामदेह या अनुपयोगी आदि कहकर उसका मूल्यांकन करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से हम शरीर और मन की दशा को ऐसी परिभाषाओं में व्यक्त कर सकते हैं जो कुछ भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं के लिहाज़ से स्वास्थ्य और रोग में कोई भेद नहीं करतीं। किन्तु जब हम किसी को 'स्वस्थ' या 'अस्वस्थ' कहते हैं तब हम अपना निर्णय मूल्य के रूप में प्रकट करते हैं। जब हम दूसरों के कथनों को, चाहे वे सरसरी तौर पर बातचीत में कहे गए हों या वैज्ञानिक व्याख्यानों में, 'सही' या 'ग़लत' कहकर उन पर अपनी राय ज़ाहिर करते हैं तब हमारी वह राय उनका मूल्यांकन होती है। वास्तव में मूल्यांकन या मूल्य सम्बन्धी निर्णय के उदाहरण देने में हमारी परेशानी का सबसे बड़ा कारण यह है कि हम स्वयं ये निर्णय देने में इतने सतत और निरन्तर रूप से लगे हुए हैं। सामान्य प्रचलित अर्थ में कहा जाए तो सभी निर्णय किसी न किसी वस्तु का मूल्यांकन, निर्धारण और आमापन ही हैं; लाभ, उपयोगिता, उद्देश्यपूर्ति और उपभोग्यता आदि की दृष्टि से उनमें भेद करना है।

किन्तु विवेकपूर्ण निर्णय के आधार पर किये गए मूल्यांकन (जिनमें वस्तु का स्थान उसके सम्बन्धों और प्रभावों की दृष्टि से विचारपूर्वक निर्धारित किया जाता है) और बिना विचार-विमर्श के भावनात्मक और क्रियात्मक कर्म के रूप में किये गए सीधे मूल्यन में अन्तर है, जिसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। किसी वस्तु के प्रति सम्मान और उसके परिमापन में, किसी वस्तु का आदर करने और उसका मूल्यनिर्धारण करने में फ़र्क है। किसी वस्तु को श्रद्धा की दृष्टि से देखने का अर्थ है उससे प्रेम करना, उससे ममत्व रखना, उसकी प्रशंसा करना या उसे अनुमोदित करना, किन्तु किसी वस्तु के आमापन का अर्थ है बौद्धिक दृष्टि से उसके मूल्य को नापना। एक सीधी, प्रत्यक्ष और स्वतःस्फूर्त क्रिया है और दूसरी प्रतिवर्त्त और विमर्शपूर्ण क्रिया। पहले हम किसी वस्तु का सम्मान करते हैं और उसके बाद उसका आमापन। और आमापन यह विचार करने के लिए किया जाता है कि कोई वस्तु सम्मान करने के योग्य है या नहीं, और है तो किस हद तक। क्या वह वस्तु ऐसी है जिसकी हमें प्रशंसा करनी चाहिए? क्या हमें उसे सचमुच महत्त्वपूर्ण

समझना चाहिए? क्या उसमें वास्तव में ऐसे गुण हैं जिनके कारण हमारा उसे मूल्यवान और प्रेय समझना उचित होगा? मनुष्य जब अधिक परिपक्व हो जाता है तब उसकी अभिवृत्ति (रवैया) स्वतःस्फूर्त के बजाय विमर्शात्मक और आलोचनामयी हो जाती है। सबसे पहले किसी भी वस्तु के प्रति हमारा रुख आकर्षण या विकर्षण के रूप में प्रकट होता है; हम या तो उस वस्तु को पसन्द करते हैं या नापसन्द। उसके बाद अनुभव यह प्रश्न उठाता है कि क्या वह वस्तु सचमुच वैसी ही है, जिस रूप में हमारे आदर अथवा तिरस्कार ने उसे ग्रहण किया था; क्या उसके प्रति हमारी वह प्रतिक्रिया सचमुच उचित थी?

इन दोनों अभिवृत्तियों में एक स्पष्ट अन्तर है और वह यह कि हमारे मन में प्रशंसा और आदर का जो तत्काल प्रवाह पैदा होता है वह सम्बद्ध वस्तु, व्यक्ति, कार्य, प्राकृतिक दृश्य और कलाकृति आदि में पूर्णतः तल्लीन होता है, उसमें उनके स्थान, प्रवाह या अन्य वस्तुओं के साथ उनके सम्बन्धों की पूर्णतः उपेक्षा कर दी जाती है। यह एक प्रसिद्ध बात है कि प्रेमी अपने प्रेमपात्र को उस दृष्टि से नहीं देखता जिससे दूसरे लोग देखते हैं और यह सिद्धान्त सार्वत्रिक है। कारण, सोचने का अर्थ है किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं के साथ उसके **सम्बन्धों की अपेक्षा से** देखना और इस प्रकार का विविक्त निर्णय प्रायः आदर और पसन्द की प्रारम्भिक अभिवृत्ति को आमूलचूल बदल देता है। इसका एक अत्यन्त साधारण उदाहरण यह है कि किसी खाद्य-पदार्थ को देखकर स्वभावतः हमारे मन में उसके लिए लालसा पैदा होती है, परन्तु बाद में हमारा अनुभव हमें बलात् यह महसूस कराता है कि वह हमारे लिए अच्छा नहीं है, हमें वह स्वास्थ्य प्रदान नहीं कर सकता। यह सम्भव है कि एक बच्चा मिठाई को बहुत अधिक पसन्द करे और उसके मन में उसकी चाह पैदा हो, किन्तु एक परिपक्व बुद्धि का व्यक्ति उसे बताता है कि वह उसके लिए अच्छी नहीं है, वह उसे बीमार कर देगी। बच्चे के लिए 'अच्छी' का अर्थ है स्वाद में अच्छी वस्तु, जो उसकी तात्कालिक लालसा को तृप्त कर सके। किन्तु अधिक अनुभवी व्यक्ति की दृष्टि में 'अच्छी' वस्तु वह है जो कुछ उद्देश्यों को पूरा करे, जिसके कुछ विशेष सम्बन्धों में कुछ निश्चित परिणाम हों, मूल्य सम्बन्धी निर्णय का अर्थ है एक ऐसा कार्य जिसमें इन सम्बन्धों की खोज की जाती है और उन्हें ध्यान में रखा जाता है।

पिछले अध्याय में अनुमोदन और भर्त्सना, स्तुति और निन्दा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया था वह और यह मुद्दा स्पष्टतः एक ही है। एक सामान्य व्यक्ति जब एक निष्ठुर क्रूरता के काम को देखेगा तो उसके मन में तत्काल विरोध का भाव पैदा हुए बिना नहीं रहेगा; रोष और असन्तोष तुरन्त ही उसके मन में पैदा होंगे। एक बच्चा जब यह देखेगा कि जिसके प्रति उसे प्रेम है, उसे दूसरा व्यक्ति कष्ट दे रहा है तो उसके मन में यही प्रतिक्रिया पैदा होगी। किन्तु समझदार वयस्क

व्यक्ति यह भी अनुभव कर सकता है कि कष्ट देने वाला व्यक्ति चिकित्सक है और वह रोगग्रस्त व्यक्ति के लिए ही ऐसा कर रहा है। बच्चा उस कार्य को उसी रूप में ग्रहण करता है जिस रूप में वह तत्काल उसके सामने प्रस्तुत होता है और वह उसे बुरा समझता है, किन्तु वयस्क उसकी व्याख्या एक अधिक व्यापक समग्र के अंग के रूप में करता है और उस सम्बन्ध में उसे अच्छा पाता है। वयस्क में यह जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उसमें अपरिष्कृत रूप में हमें वे प्रक्रियाएँ दीख पड़ती हैं जिनके द्वारा किसी वस्तु के सम्बन्ध में स्वतःस्फूर्त होने वाले पसन्द और नापसन्द के भाव से अनुमोदन और अननुमोदन के नियमन का एक पैमाना बनाने का विचार उद्भूत होता है। यह परिवर्तन इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि मूल्य सम्बन्धी निर्णय केवल पसन्द या नापसन्द अथवा अनुकूलता या प्रतिकूलता की पहले की अभिवृत्तियों को ही पुष्ट नहीं करते, बल्कि वे यह निश्चय करके कि कौन-सी वस्तु आदरणीय या स्पृहणीय है, उन अभिवृत्तियों का पुनर्निर्माण और परिवर्तन भी करते हैं।

## 2. मूल्य की तात्कालिक प्रतीति और उसकी सीमाएँ

किसी वस्तु या व्यक्ति के सीधे **मूल्यन** अर्थात् उसे प्रेय समझने और उसमें तल्लीन हो जाने एवं उसके **मूल्यांकन** अर्थात् व्यापक दृष्टि से विचारकर प्राप्त किये गए विमर्शपूर्ण निर्णय में जो अन्तर है वह इस विवाद पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है कि नैतिक निर्णय **अन्तर्ज्ञान** के परिणाम हैं या नहीं। किसी वस्तु के लिए हमारे मन में पसन्द या नापसन्द की जो तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ पैदा होती हैं उन्हें सहज में अन्तर्ज्ञानात्मक कहा जा सकता है। वे किसी सुविचारित तर्क या आधार पर आश्रित नहीं होतीं। हम महज किसी व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं या उससे असन्तुष्ट होते हैं, उससे आकृष्ट होते हैं या विरक्त होते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। यह अभिवृत्ति केवल असंस्कृत और अशिक्षित मन में ही नहीं रहती, अनुभव और शिक्षा से सधे हुए मन में भी रहती है। किसी भी क्षेत्र के विशेषज्ञ के मन में किसी वस्तु के लिए उत्पन्न प्रतिक्रिया विमर्शपूर्ण प्रतिक्रिया के बजाय सहज बोध या अन्तर्ज्ञान का परिणाम होती है। पूर्णतः ऐसा न हो तो भी कुछ हद तक ऐसा अवश्य होता है। उदाहरण के लिए ज़मीन-जायदाद का विशेषज्ञ अपनी सहज-बुद्धि से तत्काल किसी ज़मीन या जायदाद की कीमत का ऐसा सही अन्दाज़ लगा लेगा जो एक साधारण आदमी की क्षमता से परे होगा। वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति किसी विशेष अनुसन्धान पद्धति के अर्थ और सम्भावनाओं को तुरन्त समझ जाएगा जब कि एक अप्रशिक्षित व्यक्ति को उसका कुछ सिर-पैर समझने के लिए वर्षों अध्ययन करना पड़ेगा। कुछ व्यक्तियों में व्यक्तिगत सम्बन्धों को तत्काल समझ लेने की प्रतिभा होती है, वे केवल ऊपरी मिलनसारी और माधुर्य

के अर्थ में ही नहीं, बल्कि मानवीय आवश्यकताओं और प्रेम के वास्तविक सहज बोध की दृष्टि से भी दक्ष समझे जाते हैं। पिछले अनुभवों और पिछले सचेत विचार-विमर्श के परिणाम हमारी सीधी आदतों में समाविष्ट हो जाते हैं और फिर वे तात्कालिक मूल्यांकन के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। हमारे अधिकतर नैतिक निर्णय सहज अन्तर्ज्ञानात्मक होते हैं, किन्तु यह तथ्य इस बात का प्रमाण नहीं है कि मनुष्य में नैतिक अन्तर्दृष्टि की एक अलग मनःशक्ति होती है, बल्कि यह पुराने अनुभवों का परिणाम है, जो जीवन के दृश्य की हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि में संचित हो जाते हैं। जैसा कि अरस्तू ने बहुत समय पूर्व कहा था, एक अच्छे आदमी का अच्छे और बुरे का तात्कालिक निर्णय अनुभवहीन व्यक्तियों के बहुत-से विस्तृत और तर्कपूर्ण निर्णयों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

जो नैतिक निर्णय हम तत्काल करते हैं वह हमारी बाल्यावस्था और यौवन की शिक्षाओं से और भी पुष्ट हो जाता है। बच्चे अक्सर ऐसे वयस्कों से घिरे रहते हैं जो निरन्तर उनके आचरण के सम्बन्ध में अपना मूल्यांकन और निर्णय देते रहते हैं। और उनकी ये टिप्पणियाँ विशुद्ध बौद्धिक स्तर पर ही नहीं की जातीं, बल्कि अत्यन्त भावनात्मक परिस्थितियों में भी की जाती हैं। उन निर्णयों की छाप कुछ सम्भ्रम और रहस्य के वातावरण में लपेटकर और साधारण पुरस्कार के प्रलोभन या दंड के भय के साथ बच्चों के मन पर डालने की कोशिश की जाती है। परिणाम यह होता है कि जिन परिस्थितियों में बच्चों में ये अभिवृत्तियाँ पैदा की जाती हैं उनके भूल जाने पर भी वे बनी रहती हैं, वे इतने प्रगाढ़ रूप में बच्चे के 'स्व' का अंग बन जाती हैं, मानो वे अनिवार्य और सहज अभिवृत्तियाँ हों।

यह तथ्य जहाँ यह सिद्ध करता है कि प्रतिक्रियाएँ अन्तर्ज्ञानात्मक होती हैं, वहाँ यह सीधे तात्कालिक मूल्यांकन की सीमा को भी इंगित करता है। ये प्रतिक्रियाएँ प्रायः ऐसी शिक्षा का परिणाम होती हैं जो ग़लत दिशा निर्देशित होती है। यदि इन प्रतिक्रियाओं के उद्गम की परिस्थितियाँ बुद्धिमत्तापूर्ण होतीं अर्थात् उनके सृजन में भाग लेने वाले माता-पिता नैतिक दृष्टि से समझदार होते तो यह सम्भव था कि ये प्रतिक्रियाएँ बुद्धिमत्तापूर्ण होती हैं। किन्तु होता यह है कि बच्चों के ऐसे शिक्षण में अविवेकपूर्ण और असंगत परिस्थितियाँ भी आ घुसती हैं और वे उनके मन पर उसी तरह अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं जिस तरह विवेकपूर्ण उपादान उसे प्रभावित करते हैं। मनुष्य के सहज अन्तर्ज्ञान बहुत प्रारम्भिक अवस्था में पैदा होते हैं और बाद में वे अचेतन रूप में उसमें विद्यमान रहते हैं, अक्सर यही उनके विकृत और सीमित होने का कारण है। यह बात प्रायः असम्भव होती है कि बाद के विचार-विमर्श उन अन्तर्ज्ञानों तक, जो अचेतन रूप से मनुष्य के 'स्व' के अंग बन जाते हैं, पहुँच सकें और उन्हें सुधार सकें। इसलिए ये विकृत अन्तर्ज्ञान ही स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। सिर्फ परम्परागत रूढ़िवादी

तथा कठमुल्ला लोगों में ही यह बात पाई जाती है कि उन्हें प्रायः तत्काल ही आचरण में अच्छे या बुरे के अपने निर्णय पर पूरा भरोसा होता है।

जिन अन्तर्ज्ञानात्मक सम्बोधों का हमने अभी उल्लेख किया है, उनमें सर्वोत्तम कोटि के अन्तर्ज्ञानों के मूल्य की भी एक स्थायी सीमा होती है। ऐसे अन्तर्ज्ञान उसी हद तक विश्वसनीय और भरोसे के योग्य होते हैं जिस हद तक कि आदर की पात्र वस्तुओं और उनकी परिस्थितियों में पहले देखी हुई वैसी ही वस्तुओं और परिस्थितियों से समानता होती है और जिस हद तक उनकी पुनरावृत्ति होती है। जब कोई सर्वथा नई, भिन्न और अपरिचित वस्तु या परिस्थिति आ पड़ती है तब पहले का अन्तर्ज्ञान भरोसे के साथ काम नहीं कर पाता। 'नये अवसर नये कर्त्तव्यों की शिक्षा देते हैं।' किन्तु वे उन लोगों को शिक्षा नहीं दे सकते जो यह समझते हैं कि वे नई परिस्थितियों में भी बिना किसी नये विचार-विमर्श के अच्छे और बुरे के सम्बन्ध में अपने अतीत के मूल्यांकन पर भरोसा कर सकते हैं। चरम अन्तर्ज्ञानवाद और चरम रूढ़िवाद में अक्सर चोली-दामन का साथ होता है। नई परिस्थितियों की आवश्यकताओं पर विचार-विमर्श को नापसन्द करना प्रायः इस भय का चिह्न होता है कि इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप एक नवीन अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति होगी, जिससे बद्धमूल और जमी-जमाई धारणाओं और आदतों को बदलना और सरल और अभ्यस्त व्यवहार के संकीर्ण घरौंदों से बाहर निकलना पड़ेगा, जो एक कठिन और असुविधाजनक कार्य है।

अच्छे या बुरे के अन्तर्ज्ञानों या तत्काल जनित अनुभवों का अपने आपमें नैतिक के बजाय मनोवैज्ञानिक महत्त्व अधिक होता है। क्या स्वीकार किया जाना चाहिए और क्या नहीं, इसके पर्याप्त निर्णायक होने के बजाय वे जमी-जमाई आदतों के द्योतक अधिक होते हैं। उनसे अधिक-से-अधिक इतना ही होता है, और वह भी तब जब कि पहले से विद्यमान आदतें अच्छी हों, कि हम उनके आधार पर किसी भी वस्तु के बारे में अपने मूल्यांकन को पहले से ही मान लेते हैं, और ये अन्तर्ज्ञान हमारे लिए पथ-प्रदर्शक और संकेत का काम देते हैं। किन्तु तीन बातें इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं। पहली यह कि और कोई भी चीज़ उतनी तात्कालिक और अपने निज के सम्बन्ध में सुनिश्चित प्रतीत नहीं होती जितना तात्कालिक और सुनिश्चित एक गहरा और बद्धमूल पूर्वग्रह होता है। किसी वर्ग, समुदाय या जाति के नैतिक आदर्श जब अन्य जातियों या राष्ट्रों के नैतिक आदर्शों के सम्पर्क में आते हैं तब आमतौर पर उन्हें अच्छे और बुरे के अपने निर्णय की सत्यता और सहीपन का इतना गहरा और सुनिश्चित विश्वास होता है कि वे संकीर्ण बन जाते हैं और इस विश्वास के कारण दूसरों के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमियाँ और शत्रुता पैदा हो जाती है। दूसरी बात यह है कि जो निर्णय सामान्य परिस्थितियों में सही होता है वही परिवर्तित परिस्थितियों में ग़लत भी हो सकता है। यह कहने की

आवश्यकता नहीं है कि मूल्यों के सम्बन्ध में गलत विचारों को हमेशा बदलना पड़ता है। यह बात आमतौर पर लोग सहज में अनुभव नहीं कर पाते कि अच्छे और बुरे के बारे में जो मान्यताएँ किसी समय सही थीं, वे सामाजिक परिस्थितियाँ बदलने पर परिवर्तित करनी पड़ती हैं। जिस तरह मनुष्य को अतिपरिचय के कारण प्रिय लगने वाली अन्य वस्तुओं के प्रति मोह हो जाता है, उसी तरह अपने निज के सुपरिचित निर्णयों के प्रति भी उसे मोह हो जाता है और वह उनसे चिपटा रहता है। किन्तु आज के-से ज़माने में, जबकि औद्योगिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षत्रों में द्रुत गति से परिवर्तन हो रहे हैं, यह खासतौर से आवश्यक हो जाता है कि पुरानी धारणाओं को बदला जाए। तीसरी बात यह कि कट्टर अन्तर्ज्ञानवाद के सिद्धान्त का झुकाव बिना किसी तर्क, प्रश्न या आपत्ति के आप्त वचनों को स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति की दिशा में होता है जिसे बैन्थम ने **स्वतः प्रामाण्य** कहा है। यदि अन्तर्ज्ञान को, उसके अर्थ पर, अर्थात् उसके सम्भावित परिणामों पर, विचार करके पुनः पुष्ट और सुदृढ़ न किया जाए तो यह सम्भव है कि अच्छे-से-अच्छा अन्तर्ज्ञान भी मात्र औपचारिक और परोक्ष या दूसरे से प्राप्त ज्ञान बन जाए। सामान्य तौर पर अच्छे और बुरे का जो विवेक मनुष्य के मन में होता है उसका किसी विशिष्ट प्रसंग या परिस्थितियों में होने वाले अच्छे और बुरे के विवेक के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ हो और फिर भी उसमें यह आस्था बहुत गहरी हो कि उसे अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। किन्तु जब वह यह मान लेता है कि कर्त्तव्य-पालन की सामान्य भावना और चेतना से प्रेरित होने के कारण वह किसी भी कार्य विशेष के बारे में, जिसे वह अपना कर्त्तव्य समझता है, अपने तात्कालिक विचारों पर बिना समझे-बूझे और बिना विचार-विमर्श किए, भरोसा कर सकता है तब वह सामाजिक दृष्टि से ख़तरनाक बन जाता है। कारण, उस दशा में अगर वह व्यक्ति सुदृढ़ इच्छा-शक्ति वाला होगा तो बड़ी निर्ममता के साथ दूसरों पर अपने निर्णयों और पैमानों को थोपने का प्रयत्न करेगा। उसे यह दृढ़ विश्वास होगा कि सत्य और ईश्वर की उसे इच्छा का समर्थन प्राप्त है।

### 3. संवेदनशीलता और विचारशीलता

अन्तर्ज्ञानवाद के सिद्धान्त का स्थायी मूल्य इस बात में है कि उसमें परोक्ष रूप से परिस्थितियों और कार्यों के गुणों को तत्काल और सीधा ग्रहण कर सकने की क्षमता के महत्त्व पर बल दिया गया है। पैनी दृष्टि या सूक्ष्म श्रवण शक्ति अपने-आपमें इस बात के सुनिश्चित प्रमाण नहीं हैं कि उनसे भौतिक वस्तुओं का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अवश्य सही होगा। परन्तु ये दोनों ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य हैं जिनके बिना ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। तत्काल ग्रहण करने की

क्षमता या संवेदनशीलता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके अभाव की पूर्ति और किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति में संवेदनशीलता नहीं है वह उदासीन और निर्मम होता है। जब तक व्यक्तियों या कामों के बारे में मनुष्य को कोई सीधा तात्कालिक और अविभृष्ट प्रारम्भिक सम्बोध नहीं होगा तब तक उनके सम्बन्ध में बाद में विचार-विमर्श करने के लिए आधारभूत सामग्री ही उपलब्ध नहीं होगी। यह आवश्यक है कि मनुष्य किसी कार्य के गुणों को उसी प्रकार **अनुभव करे** जिस प्रकार वह वस्तुओं की कठोरता और कोमलता को अपने हाथों के स्पर्श से अनुभव करता है। तभी उसे उन पर विचार करने की प्रेरणा और सामग्री प्राप्त होगी। साथ ही उसके सक्रिय विचार के परिणामस्वरूप ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न होनी चाहिए जिसे विचार करनेवाला व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से सीधा अनुभव कर सके, तभी उसका विचार प्रभावशील रूप में क्रिया में परिणत हो सकेगा। निष्क्रियता, उदासीनता और उत्साहहीनता से किया गया विचार सही नतीजे पर भले ही पहुँचा दे, किन्तु यदि व्यक्ति अपने सामने तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत विचारों के प्रति उदासीन या सहानुभूतिहीन रहता है तो वे उसे अपने अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकेंगे।

यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि नैतिक निर्णयों को तत्त्वतः बौद्धिक के बजाय भावनात्मक मानने का आग्रह करने वाले सिद्धान्तों में भी सत्य का अंश होता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय में, चाहे वह कितना ही बुद्धियुक्त हो, भावना का कुछ-न-कुछ पुट अवश्य होगा और तभी वह व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। बुराई के हर ज्ञान में, जोकि सही ज्ञान होगा, कुछ-न-कुछ रोष होना अनिवार्य है, चाहे वह हल्की विरक्ति के रूप में हो या तीव्र विरक्ति के अथवा उत्कट घृणा के रूप में। इसी प्रकार अच्छाई के सम्बन्ध में हर सक्रिय ज्ञान में, हर पूर्ण अवबोध में, कुछ-न-कुछ आकर्षण होना आवश्यक है, चाहे वह प्रगाढ़ प्रेम के रूप में हो और चाहे हल्की पसन्द के रूप में। किन्तु यह कहना सही नहीं होगा कि इस प्रकार के मूल्यांकन के लिए केवल भावना ही पर्याप्त है, संज्ञानात्मक तत्त्वों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यह ज़रूर सम्भव है कि हमें यह पता न चले कि कोई कार्य **क्यों** हमारे मन में अपने लिए सहानुभूति अथवा असहानुभूति पैदा करता है, हो सकता है कि हम यह न जान पाएँ कि किसी कार्य को हम किस आधार पर उचित समझ रहे हैं। वास्तव में उस समय उक्त कार्य के सम्बन्ध में हमारा तीव्र भावनात्मक सम्बोध ही स्वयं अपना तर्क और औचित्य का आधार होता है। किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमें उस वस्तु का कम-से-कम कुछ ज्ञान अवश्य हो, जिसकी यह प्रशंसा करते हैं या जिससे हम घृणा करते हैं; कोई-न-कोई ध्येय या व्यक्ति ऐसा ज़रूर होना चाहिए। जिसकी हमें फिक्र करनी है, जो हमारी चिन्ता का विषय है अन्यथा हम में या तो पशुओं के विनाशक क्रोध की भाँति

निरा बबर क्रोध का भाव पैदा होगा या पशुओं की अपने आहार से क्षुधा मिटाने की विशुद्ध तात्कालिक तृप्ति की-सी, निरी पाशविक तृप्ति की भावना होगी।

हमारी आँख, कान, हाथ, नाक और जिह्वा की ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाएँ लकड़ी, पत्थर या फल आदि भौतिक वस्तुओं के गुणों के हमारे ज्ञान के लिए सामग्री जुटाती हैं। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि ये ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाएं हमारे व्यक्तियों के ज्ञान के लिए भी सामग्री प्रस्तुत करती हैं। यह कहा जाता है कि कुछ आकृतियों और रंगों को देखकर, कुछ ध्वनियों को सुनकर अथवा इसी प्रकार की अन्य ऐन्द्रियिक प्रतिक्रियाओं से हम साम्यानुमान द्वारा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि एक खास भौतिक शरीर में वैसी ही ऐन्द्रियिक ज्ञान और भावनाओं से युक्त आत्मा का वास है जैसी हमारे विचार में हमारे अपने शरीर में विद्यमान है। यह सिद्धान्त बेतुका है। वस्तुतः **भावनात्मक** प्रतिक्रियाएँ ही अपने और दूसरों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की मुख्य सामग्री होती हैं। जिस प्रकार भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारे विचार ऐन्द्रियिक ज्ञान की सामग्री से बनते हैं, उसी प्रकार व्यक्तियों के बारे हमारे विचार भावनात्मक और मानसिक सामग्री से बनते हैं। व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाएं भी उसी तरह सीधी और अव्यवहित होती हैं जैसे ज्ञानेन्द्रियों की प्रतिक्रियाएँ; बल्कि वे उनसे भी अधिक दिलचस्प होती हैं और हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करती हैं। आदिमयुगीन जीवन का सर्वात्मवाद और प्राकृतिक घटनाओं और वस्तुओं पर व्यक्तित्व के अध्यारोप (पर्सोनिफिकेशन) की प्रवृत्ति (जो काव्य में अभी तक अवशिष्ट है।) इस बात का प्रमाण है कि व्यक्तियों का जो ज्ञान हमें होता है, वह साम्यानुमान से नहीं, बल्कि सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सैद्धान्तिक रूप से यह बात किसी भी तरह स्पष्ट नहीं की जा सकती कि हम व्यक्तियों के अस्तित्व को अप्रत्यक्ष रूप से साम्यानुमान के द्वारा जान पाते हैं। जहाँ कहीं हम तीव्र घृणा या प्रेम अनुभव करते हैं, वहाँ प्रेम के योग्य या प्रेम करने वाली अथवा घृणा के योग्य या घृणा करने वाली कोई वस्तु हमारी क्रिया का सीधा लक्ष्य होती है। भावनात्मक व्यवहार के बिना सभी मानव प्राणी हमारे लिए सिर्फ चेतन स्वचल पदार्थ-मात्र रह जाएँगे। फलतः ऐसे सभी कार्य जो सक्रिय आदर या तिरस्कार का भाव पैदा करते हैं, व्यक्तियों के कार्यों के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किए जाते हैं। ऐसे मामलों में हम कर्त्ता और कर्म में भेद नहीं करते। एक अच्छे कार्य का अर्थ यह होता है कि उसका कर्त्ता अच्छा है और एक नीचतापूर्ण कार्य का अर्थ होता है कि उसका कर्त्ता नीच होता है।

इस दृष्टि से तर्कसंगत कार्य और उदारतापूर्ण कार्य एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। जिस व्यक्ति में सहानुभूतिपूर्ण अनुक्रिया का अत्यन्ताभाव होता है, उसमें नाप-तोल और हिसाब-किताब की बुद्धि हो सकती है, किन्तु उसमें दूसरों के

अपनी आकांक्षाओं को तृप्त करने के अधिकार के दावों के लिए स्वयं सहानुभूति पैदा नहीं होगी। संकीर्ण सहानुभूति वाले व्यक्ति का मानवीय भलाई के सम्बन्ध में दृष्टिकोण अवश्य ही सीमित होगा। सही अर्थों में **सर्वसामान्य** विचार ही **उदार** विचार है। सहानुभूति ही मनुष्य के विचार को उसके 'स्व' की सीमा के पार ले जाती है और उसके क्षेत्र को तब तक विस्तीर्ण करती जाती है जब तक कि सारा विश्व उसकी सीमा के अन्तर्गत नहीं आ जाता। सहानुभूति के कारण ही हम किसी कार्य के परिणामों का विचार करते हुए महज निजी लाभालाभ की गणना नहीं करते, क्योंकि सहानुभूति दूसरों के हितों को खूब स्पष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित करती है और हमें यह प्रेरणा देती है कि हम उन्हें भी उतना ही महत्त्व दें जितना हम अपनी प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और अधिकार सम्बन्धी हितों को देते हैं। अपने-आपको दूसरों की जगह पर रखना, सब चीज़ों को दूसरों के हित और मूल्यों की दृष्टि से देखना और अपने निज के दावों को तब तक कम करते जाना जब तक कि वे घटते-घटते एक ऐसे स्तर पर न पहुँच जाएं जहाँ एक निष्पक्ष और सहानुभूतिशील प्रेक्षक की दृष्टि में उन्हें रहना चाहिए—यही नैतिक ज्ञान को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ बनाने का सुनिश्चततम तरीका है। सहानुभूति नैतिक विवेक को चेतन बनाने वाला साँचा है, लेकिन इसलिए नहीं कि मनुष्य के कार्यों में सहानुभूति के आदेशों को अन्य उद्दीपनाओं के आदेशों की अपेक्षा प्रथम स्थान मिलता है (क्योंकि वास्तव में ऐसा नहीं होता), बल्कि इसलिए कि सहानुभूति ही व्यक्ति के सामने सबसे अधिक सुनिश्चित प्रभावकारी **बौद्धिक** दृष्टिकोण उपस्थित करती है। सहानुभूति जटिल और पेचीदा स्थितियों के समाधान की **सर्वश्रेष्ठ** साधन है इन गुत्थियों को सुलझाने के बाद जब वह सक्रिय और प्रकट व्यवहार में आती है तो वह अकेली नहीं होती, अन्य अनेक उद्दीपनाओं के साथ **संश्लिष्ट** होती है और इस प्रकार विशुद्ध भावनात्मकता का शिकार होने से बच जाती है। इस संश्लेषण में मनुष्य अपने व्यापक व्यक्तित्व के कारण सभी कामनाओं और इरादों को व्यापक और निष्पक्ष भाव से देखता और तोलता है। सहानुभूति ही एक ऐसी चीज़ है जो उपयोगितावाद के संकीर्ण हिसाबीपन और काण्ट के आकारी नियम को प्राणवान् और गतिशील वास्तविकता बनाती है।

नैतिक आचार के सम्बन्ध में की गई प्राचीनतम खोजों में से एक यह भी कि आचरण में अच्छे और बुरे का विवेक और सौन्दर्य और कुरूपता का बोध—दोनों में सादृश्य है। पाप के प्रति घृणा और सत्कर्म के प्रति आकर्षण की अनुभूतियाँ मनुष्य की सौन्दर्य बोध की भावना में बद्धमूल हैं। प्रशंसा और विरक्ति की भावनाएँ नैसर्गिक हैं। जब ये भावनाएँ आचरण पर लागू की जाती हैं तो वे एक ऐसा तत्त्व बन जाती हैं जो नैतिक **भावना** के सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त न्याय बुद्धि और सम्मिति (सिमेट्री) और अनुपात (प्रपोर्शन) बुद्धि का घनिष्ठ साहचर्य

है। अंग्रेज़ी में न्यायोचित और सुन्दर दोनों के लिए एक ही द्व्यर्थक शब्द 'फेयर' का होना एक संयोग मात्र नहीं है। ग्रीक भाषा में 'सोफ्रोसिन' शब्द भावनाओं के सम्मिश्रण और संश्लेषण से एक सुन्दर समग्र के निर्माण का जो अर्थ व्यक्त करता है वह तत्त्वतः एक कलात्मक विचार ही है। आत्म-नियन्त्रण इसका अनिवार्य परिणाम है, किन्तु जान-बूझकर एकांगी आत्म-नियन्त्रण करना किसी भी बुद्धिवादी को उसी तरह पसन्द नहीं आएगा जैसे कि किसी भवन या मूर्ति में की गई ऐसी नियन्त्रण व्यवस्था जिसमें पूर्ण अवयवी सब अवयवों में व्याप्त होकर उन सबको एक निश्चित व्यवस्था में नियमबद्ध नहीं करता और उनमें एकत्व स्थापित नहीं करता। ग्रीक लोगों ने कालोकागाथोस (नैतिक दृष्टि से सुन्दरता) पर जो बल दिया है, अरस्तू ने नपी-तुली यथोचित व्यवस्था को ही जो सदाचरण स्वीकार किया है, वे दोनों ही इस बात के द्योतक हैं कि सौन्दर्य, लय, ताल और समस्वरता सदाचरण के प्रधान लक्षण हैं। आधुनिक मानव का मन सौन्दर्य बोध के मूल्यों के प्रति वैसे भी कम संवेदनशील रहा है और आचरण में इन मूल्यों के प्रति तो उसकी संवेदनशीलता और भी कम रही है। सत्य और उचित के प्रति मनुष्य की सीधी अनुक्रियाशीलता (प्रतिक्रिया) में बहुत ह्रास हो गया है। नैतिक आदर्शों के प्रति उदासीनता और निर्ममता इस ह्रास के उदाहरण हैं।

किसी कार्य के सम्बन्ध में मन में पैदा होने वाली तात्कालिक प्रतिक्रिया से हम उसका जो सीधा मूल्यन करते हैं उसकी पूर्ति और विस्तार बाद में विचार-विमर्श-पूर्ण मूल्यांकन से होता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा था, अच्छा आदमी ही इस बात का अच्छी तरह निर्णय कर सकता है कि वास्तव में अच्छा क्या है। अच्छे, सुन्दर और सुदृढ़ चरित्र से ही मनुष्य किसी कार्य के बारे में तुरंत ठीक-ठीक यह जान सकता है कि वह अच्छा है या बुरा है और उसके अनुसार उसकी प्रशंसा या निन्दा कर सकता है। उसके इस कथन में हम दो बातें और जोड़ सकते हैं। पहली यह कि अच्छा आदमी भी केवल साधारण परिस्थितियों में ही, ऐसी परिस्थितियों में जिनसे वह पहले से ही भली-भाँति परिचित है, अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न मूल्यों पर भरोसा कर सकता है। वह जितना भला होगा, नई और पेचीदा परिस्थितियों में वह उतना ही परेशान और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाएगा, तब इस दुविधा में से निकलने का एक ही मार्ग होगा कि वह अपने मन में तब तक सब बातों की परीक्षा करे, उन्हें उलटे-पलटे और जाँचे जब तक कि उसके सामने कोई ऐसी सुनिश्चित चीज़ न आ जाए जो उसके मन में सीधी प्रतिक्रिया पैदा करे। यह सम्भव है कि इसके लिए उसे बहुत लम्बे समय तक मन्थन करना पड़े। दूसरी बात यह है कि दुनिया में 'पूरे अर्थों में अच्छा आदमी'-जैसी कोई चीज़ नहीं है। यह सम्भव है कि मनुष्य अपने मन पर पड़ने वाली तात्कालिक प्रतिक्रिया से किसी वस्तु का जो मूल्यन करता है वह कुछ विचारों के कारण दोषपूर्ण और विकृत हो।

हो सकता है कि इन विचारों की प्रतीति और उन्मूलन बाद में जिज्ञासा, अध्ययन और पर्यालोचन से ही सम्भव हो। पूर्णतः अच्छा और अभ्रान्त सदसद्विवेकी होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य शैशव में ही एक पूर्णतः अच्छे सामाजिक माध्यम में रहे, जो सब तरह की संकीर्ण मर्यादाओं और दूषित प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य की पसन्द और नापसन्द की आदतें जीवन के प्रारम्भ में ही बन जाती हैं, जबकि उसमें विवेकपूर्ण बुद्धि के उपयोग की योग्यता ही नहीं होती। उसमें पूर्वग्रह और अचेतन पक्षपात बुद्धि पैदा हो जाती है, वह आदर और प्रशंसा करते हुए पूरा संतुलन नहीं रख सकता, कुछ मूल्यों के प्रति वह अनुचित रूप से संवेदनशील हो जाता है और कुछ के प्रति उदासीन। उसके तौर-तरीके बिलकुल बंधे-बंधाये होते हैं, और उसकी तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ और मूल्यन उसकी अपनी अचेतन रूप से बनाई आदतों के सीमित दायरों में ही घूमते रहते हैं। इसलिए किसी कार्य के सम्बन्ध में स्वतःस्फूर्त तात्कालिक अन्तर्ज्ञान को हमें इस रूप में ही स्वीकार करना होगा कि बाद में परिणामों के व्यक्तिगत पर्यवेक्षण और उनके गुणावगुण और क्षेत्र की सूक्ष्म परीक्षा से उनकी पुष्टि या उनमें संशोधन और परिवर्तन किया जा सकता है।

## 4. अन्तर्विवेक और पर्यालोचन

इस प्रक्रिया का साधारण नाम पर्यालोचन या विमर्श है। नैतिक पर्यालोचनशीलता जब आदत बन जाती है तब उसे अन्तर्विवेकशीलता या अन्तर्भावनाशीलता कहा जाता है। इस गुण का अभिप्राय है किसी भी कार्य या प्रस्तावित उद्देश्य की संभावनाओं के प्रति सचिन्त अवधानशीलता। यह गुण उनमें पाया जाता है, जो अपने-आपको किसी तात्कालिक तृष्णा या आवेश में अनुचित रूप से बहने नहीं देते और न रोजमर्रा के घिसे-पिटे व्यवहार की लीक पर घिसटने देते हैं। जो 'भला' आदमी अपनी पतवार छोड़ देता है, जो सिर्फ अपनी उपार्जित अच्छी आदतों के बहाव के वेग से ही अपने-आपको बहने देता है वह सतर्कता खो देता है; वह फिर जागरूक नहीं रहता। सतर्कता और जागरूकता खो देने से उसकी अच्छाई भी उसे छोड़ जाती है। वास्तव में इसके विपरीत एक 'अति-अन्तर्भावनाशीलता' जैसी चीज़ भी है, परन्तु वह एक तरह का दुर्गुण है। अति-अन्तर्भावनाशीलता या अन्तर्भावनाशीलता की इस अति का अर्थ है मनुष्य का इस बात के लिए निरन्तर चिन्तित रहना कि वह वास्तव में अच्छा है या नहीं। यह एक प्रकार की नैतिक 'आत्म-चेतना' है जो मनुष्य के लिए परेशानी पैदा करती है, उसके हर काम में रुकावट, झिझक और विकृत-भय उत्पन्न करती है। वह वास्तविक अन्तर्भावनाशीलता का एक भौंडा रूप है। कारण सच्ची अन्तर्भावनाशीलता का अर्थ चिन्ताग्रस्त होकर उद्देश्यों और प्रयोजनों को टटोलना

या कार्य के आंतरिक स्प्रिंगों को यह देखने के लिए अंगुली से दबाना नहीं है कि कोई 'प्रयोजन' अच्छा है या नहीं। सच्ची अन्तर्भावनाशीलता में एक वस्तुनिष्ठ दृष्टि होती है। उसका अर्थ है किसी कार्य को बुद्धिमत्तापूर्वक ध्यान से देखना कि इसके परिणाम सर्वसाधारण के लिए कितने सुखकर होंगे। उसका अभिप्राय इस बात की सचिन्त परीक्षा करना नहीं है कि मनुष्य स्वयं गुणी और सदाचारी है या नहीं।

तात्कालिक संवेदनशीलता या अन्तर्ज्ञान और 'अन्तर्भावनाशीलता' यानी विमर्शात्मक रुचि में शायद सबसे अधिक आश्चर्यजनक अन्तर यह है कि इनमें से प्रथम यानी तात्कालिक संवेदनशीलता उपलब्ध श्रेयसों के धरातल पर सीमित रहती है जबकि अन्तर्भावनाशीलता यानी विमर्शात्मक रुचि किसी बेहतर चीज़ की खोज करती है। सच्चे अर्थों में अन्तर्भावनाशील व्यक्ति किसी भी प्रकार का निर्णय करने में न केवल एक पैमाने का उपयोग करता है, बल्कि उसे अपने पैमाने में सुधार और परिवर्तन करने की भी चिन्ता रहती है। वह अनुभव करता है कि कार्यों में निहित मूल्य उसकी वर्तमान उपलब्धियों से काफी आगे तक जाते हैं, इसलिए यह सम्भव है कि ऐसे किसी भी पैमाने में, जो एक निश्चित आकार में बाँध दिया गया है, कुछ अपूर्णता हो। वह किसी ऐसे श्रेयस् या उद्देश्य की खोज में रहता है जो उसने अभी तक उपलब्ध नहीं किया है। केवल विचारशीलता से ही मनुष्य किसी कार्य के सुदूरगामी फलितार्थों के प्रति संवेदनशील बनता है, यदि हम निरन्तर विचार-विमर्श न करते रहें तो अधिक-से-अधिक हम कुछ सीमित और विशिष्ट उद्देश्यों के प्रति ही संवेदनशील हो सकते हैं।

किसी कार्य के बृहत्तर और दूरस्थ मूल्यों की दृष्टि को ही हम आमतौर पर आदर्श कहते हैं। आदर्शों के स्वरूप के सम्बन्ध में जितनी अधिक ग़लत धारणा फैली हुई है उतनी शायद किसी भी अन्य वस्तु के बारे में नहीं। कभी-कभी यह समझा जाता है कि आदर्श कुछ निश्चित और दूरवर्ती लक्ष्य हैं और वे इतने दूर हैं कि उन्हें आचरण में कभी भी साकार नहीं किया जा सकता। और कभी-कभी उन्हें अस्पष्ट भावनात्मक प्रेरणाएँ समझा जाता है जो आचरण को निर्देशित करने के लिए विचार का स्थान ले लेती हैं। इस प्रकार 'आदर्शवादी' व्यक्ति या तो ऐसा अव्यावहारिक आदमी समझा जाता है जो अनुपलभ्य उद्देश्यों में उलझा हुआ है या वह ऐसा व्यक्ति समझा जाता है जो किसी अमूर्त्त और अस्पष्ट आध्यात्मिक वस्तु के लिए, जिसका वास्तविक स्थितियों के साथ कोई मूर्त सम्बन्ध नहीं है, प्रेरित होकर कार्य कर रहा है। दूरवर्ती 'पूर्णता' के आदर्शों के सम्बन्ध में एक कठिनाई यह है कि उनसे हम में उन विशिष्ट परिस्थितियों के महत्त्व के सम्बन्ध में उपेक्षावृत्ति पैदा हो जाती है, जिनमें हमें काम करना पड़ता है। पूर्णता के आदर्श की तुलना में उन्हें बिलकुल तुच्छ समझा जाने लगता है। इसके विपरीत

सच्चा आदर्श वह भावना है कि उन विशिष्ट परिस्थितियों में से हरेक का एक अपना अक्षय अर्थ है, उसका मूल्य उसके प्रत्यक्ष स्थानीय अस्तित्व से भी काफी दूरगामी है। उसका स्वरूप जार्ज हर्बर्ट की इस उक्ति में शायद सबसे अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है :

> "जो तेरे नियमों के पालन के लिए कमरा बुहारता है वह कमरे को ही
> नहीं, उस काम को भी सुन्दर बना देता है।"

जैसा कि हमने कहा है, जब विमर्श व्यावहारिक मामलों के सम्बन्ध में किया जाता है, जब यह निश्चय करने के लिए उसका आश्रय लिया जाता है कि क्या करना चाहिए, तब उसे पर्यालोचन कहते हैं। एक सेनापति एक सैनिक अभियान के संचालन के बारे में पर्यालोचन करता है, शत्रु की और अपनी सेनाओं की सम्भावित गति-विधियों को तोलता है, उनके पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार करता है; एक व्यापारी पूँजी के विविध प्रकार के निर्देशों का पर्यालोचन करता है; एक वकील अपने मुकदमे के बारे में पर्यालोचन करता है और इसी प्रकार अन्य लोग भी अपने काम का पर्यालोचन करते हैं। पर्यालोचन के सभी मामलों में **मूल्य** सम्बन्धी निर्णय किया जाता है। पर्यालोचक मूल्यों को इस दृष्टि से तोलता है कि बेहतर मूल्यों को खोज सके और घटिया मूल्यों का त्याग कर सके। कुछ मामलों में उद्देश्यों के मूल्य पर विचार किया जाता है और कुछ में साधनों के मूल्य पर। नैतिक पर्यालोचन अन्य प्रकार के पर्यालोचनों से सिर्फ इसीलिए भिन्न नहीं है कि वह निर्णय करने और उसके फलस्वरूप ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है, बल्कि इसलिए भी कि वह जिस किस्म के मूल्यों पर विचार करता है वे भी अन्य पर्यालोचनों में प्रयुक्त मूल्यों से भिन्न होते हैं। जब तक व्यक्ति मूल्यों को एक प्राप्य, **संधारणीय** लक्ष्य के रूप में देखता है, जब तक वह यह समझता है कि मूल्य एक ऐसी वस्तु है जो अच्छी होने पर प्राप्य और बुरी होने पर त्याज्य है, तब तक वे टैक्निकल, पेशा सम्बन्धी, आर्थिक या इसी तरह के मूल्य रहते हैं। इसी लक्ष्य को जब इस दृष्टि से विचारा जाएगा कि उससे मनुष्य के **स्व** अर्थात् व्यक्तित्व में क्या अन्तर पड़ता है, उसे **प्राप्य** वस्तु के रूप में न देखकर इस दृष्टि से देखा जाएगा कि मनुष्य को स्वयं वैसा **बन** जाना चाहिए, तब वही नैतिक मूल्य से युक्त लक्ष्य बन जाएगा। पर्यालोचन का अर्थ है, सन्देह, झिझक, मन को पक्का करने और संकल्प करने की आवश्यकता और अन्त में एक निश्चित वस्तु का चयन करना। नैतिक पर्यालोचन या मूल्यांकन में मनुष्य को इस या उस चरित्र और प्रवृत्ति के मूल्य को आँककर उसका चुनाव करना होता है। ऐसी दशा में पर्यालोचन का अर्थ गणना करना या लाभ-हानि का गणित का-सा हिसाब फैलाना नहीं है। कारण, इस प्रकार की गणना में आत्मा के स्वरूप का कोई प्रश्न नहीं होता। प्रश्न सिर्फ यह होता है कि आत्मा को यह या वह चीज़ कितनी **मिलती है**। किन्तु

नैतिक पर्यालोचन में मूल्य की मात्रा पर नहीं, बल्कि उसकी किस्म पर विचार किया जाता है।

किसी भी वर्तमान इच्छा या आवेग के महत्त्व को हम यह भविष्यवाणी करके नापते हैं कि यदि उसको पूरा किया गया तो उसका परिणाम क्या होगा। उसके परिणाम ही उसके **अर्थ या महत्त्व** की व्याख्या करते हैं। यदि इन परिणामों की कल्पना **केवल दूरवर्ती परिणामों** के रूप में ही की जाती है यदि उनकी कल्पना से शान्ति और पूर्णता की अथवा असन्तोष, अपूर्णता और चिड़चिड़ेपन की कोई वर्तमान अनुभूति पैदा नहीं होती तो परिणामों के चिन्तन की वह प्रक्रिया विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया ही रहती है। उसका मनुष्य के व्यवहार पर उसी तरह कोई असर नहीं पड़ता, जिस तरह देहहीन अमूर्त फरिश्ते की गणितीय अटकलों का। आचरण पर विमर्श का कोई भी वास्तविक अनुभव यह सिद्ध करता है कि पहले से कल्पित किया गया कोई भी भावी परिणाम हमारे वर्तमान अनुरागों, हमारी पसन्द-नापसन्द को, हमारी इच्छाओं और विरक्तियों को तत्काल प्रभावित करता है। भावी परिणाम की पहले से कल्पना करते ही हमारे मन में एक निरन्तर टीका-टिप्पणी-सी शुरू हो जाती है जो हर वस्तु पर अच्छे या बुरे की मुहर लगाती जाती है। मूल्य की यह सीधी और प्रत्यक्ष अनुभूति ही किसी व्यक्ति के मन में उसके किसी काम के मूल्य का अन्ततः निर्धारण करती है; सामान्य नियमों या अन्तिम उद्देश्यों के बारे में चेतना यह निर्धारण नहीं करती। अन्तर्ज्ञानात्मक नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त में यह एक ऐसा सत्य है जिसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। किन्तु इसमें गलती यह समझ लेने के कारण होती है कि मूल्यांकन की यह अव्यवहित अनुक्रिया विमर्श का अनुगमन करने के बजाय उसे बहिष्कृत कर देती है। पर्यालोचन वास्तव में आचरण के विभिन्न मार्गों का एक काल्पनिक पूर्वाभ्यास होता है। हम **अपने मन में** किसी आवेग को उभरने देते हैं; किसी योजना को आज़मा कर देखते हैं। विचार की विभिन्न मंज़िलों में से गुज़रते हुए हम अपनी कल्पना में अपने-आपको ऐसे परिणामों के सम्मुख पाते हैं जो हमारे कार्य से पैदा होंगे; उस समय हम उन परिणामों को जैसा पसन्द या अनुमोदित करते हैं, या जैसा नापसन्द करते या त्याज्य समझते हैं, उसके अनुसार ही हम अपने मूल आवेग या योजना को अच्छा या बुरा समझते हैं। पर्यालोचन नाटकीय और सक्रिय होता है, वह गणितीय या अवैयक्तिक नहीं होता। इसीलिए इसमें अन्तर्ज्ञानात्मकता और प्रत्यक्षता होती है। खुले तौर पर प्रत्यक्ष आज़मायश से पूर्व मानसिक आज़मायश का लाभ (कारण, सभी कार्य एक तरह की आज़मायश हैं जिनके द्वारा हम उनकी पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार को सिद्ध करते हैं) यह होता है कि आप उस आज़मायश के बाद उसे छोड़कर पीछे भी हट सकते हैं, जबकि वास्तविक जगत् में प्रत्यक्ष रूप से घटित होने वाले परिणाम वैसे ही रहते हैं। उन्हें लौटाया

नहीं जा सकता। इसके अलावा अनेक परीक्षाएँ या आज़मायशें मन के द्वारा बहुत स्वल्पकाल में ही की जा सकती हैं। अनेक योजनाओं को कल्पना द्वारा मन में आज़माकर देखने से, कई आवेगों को, जो प्रारम्भ में दीख नहीं पड़ते, सक्रिय होने का अवसर मिलता है। मानसिक मन्थन से अनेक सीधी अनुभूतियाँ होती हैं और मनुष्य अनेक मूल्यांकन कर सकता है। जब बहुत-सी प्रवृत्तियाँ उभरकर सक्रिय होती हैं, तब स्पष्टतः इस बात की कहीं अधिक सम्भावना होती है कि आत्मा की आवश्यक और उपयुक्त शक्ति और क्षमता सक्रिय हो और इस प्रकार उसके परिणामस्वरूप एक ऐसा सुख प्राप्त हो, जो सही अर्थों में युक्तियुक्त हो। पर्यालोचन की प्रवृत्ति यह होती है कि वह विभिन्न कार्यों को विकल्पों के रूप में, 'यह या वह' के परस्पर विरोधी द्वन्द्वों के रूप में स्पष्ट करके दिखाता है। इस प्रकार उससे व्यक्ति विचारणीय विषय के महत्त्व को ठीक-ठीक पहचान लेता है।

## 5. सिद्धान्त का स्वरूप और कार्य

यह स्पष्ट है कि जिन विभिन्न स्थितियों में मनुष्य को पर्यालोचन और निर्णय करना पड़ता है उनमें कुछ तत्त्व समान होते हैं और उनमें पाए जाने वाले मूल्य एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। यह भी स्पष्ट है कि सामान्य विचार विशिष्ट मामलों के बारे में निर्णय करने में बहुत सहायक होते हैं। यदि विभिन्न परिस्थितियाँ एक-दूसरे से बिलकुल ही भिन्न और असदृश होतीं तो एक से कोई भी ऐसी चीज़ न सीखी जा सकती जो दूसरी में काम आती। किन्तु उनमें कुछ तत्त्व समान होते हैं, इसलिए अनुभव एक के तत्त्वों को दूसरी में ले जाता है और बौद्धिक दृष्टि से वह संचयी होता है। परस्पर मिलते-जुलते अनुभवों से सामान्य विचार विकसित होते हैं; भाषा, शिक्षा और परम्परा के द्वारा मूल्य के इन अनुभवों को संचित कर सामान्यीकृत दृष्टिकोणों को विकसित करने की यह प्रक्रिया इतनी विस्तृत हो जाती है कि समूचा राष्ट्र या जाति उसके अन्तर्गत आ जाते हैं। अन्तः संचार के द्वारा समूची मानव जाति का अनुभव कुछ हद तक एक जगह संचित हो जाता है और सामान्य विचारों का रूप धारण कर लेता है। यही विचार **सिद्धान्त** कहलाते हैं। विशिष्ट स्थितियों पर विचार करने के लिए हम इन्हें अपने ध्यान में रखते हैं।

ये सामान्यीकृत दृष्टिकोण विशिष्ट परिस्थितियों के अध्ययन में बहुत उपयोगी और मूल्यवान सिद्ध होते हैं, किन्तु जब वे एक पीढ़ी से दूसरी में संक्रान्त होते हैं तो वे अधिक कठोर और बँधा-बँधाया आकार धारण कर लेते हैं। अतीत अनुभव में उनका उद्गम कैसे हुआ, यह बात भुला दी जाती है और इसी प्रकार लोग यह भी भूल जाते हैं कि भावी अनुभव में उनका समुचित उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। ऐसा समझा जाता है, मानो वे बिलकुल पृथक् और स्वतंत्र रूप में विद्यमान हैं और कोई कार्य अच्छा है या बुरा इसका निर्णय करने

के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उसे उनके अन्तर्गत लाया जाए। बजाय इसके कि मूल्यों के वास्तविक उद्भव के समय उनका निर्णय करने के लिए सिद्धान्तों को सहायक साधन माना जाए, उन्हें उन मूल्यों से भी ऊँचा और श्रेष्ठ मान लिया जाता है। वे नुस्खे या नियम बन जाते हैं। अगर हम गम्भीरता से विचार करें तो सिद्धान्त को हम नियम से दो बातों में भिन्न पाएँगे—(क) सिद्धान्त इस बात का एक सामान्यीकृत कथन है कि कुछ ख़ास प्रकार की परिस्थितियों में कैसे परिणाम और मूल्य उपलब्ध होंगे, इसलिए वह अनुभव के दौरान में धीरे-धीरे विकसित होता है। किन्तु नियम एक पहले से तैयार और बँधी-बँधाई चीज़ के रूप में ग्रहण किया जाता है। (ख) सिद्धान्त प्रधानतः एक बौद्धिक वस्तु है, निर्णय की एक विधि और योजना है और जो कुछ वह प्रकट करता है उसके कारण उसकी व्यावहारिकता गौण है। किन्तु नियम में व्यावहारिकता प्रधान वस्तु होती है।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति को इस बात का दृढ़ निश्चय है कि ईमानदारी का नियम एक विशिष्ट मनः शक्ति द्वारा एक स्वतन्त्र और सर्वथा पृथक् वस्तु के रूप में जाना जाता है और उसका पुराने मामलों की स्मृति या सम्भावित भावी परिस्थितियों के पूर्व कथन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उस दशा में वह व्यक्ति किसी विशिष्ट मामले का निर्णय करने के लिए उस पर उस नियम को कैसे लागू करेगा? कौन-सी घंटी या कौन-सा संकेत यह बताएगा कि ईमानदारीपूर्ण व्यवहार का नियम लागू करने के लिए यही मामला उपयुक्त है? और यदि किसी चमत्कार से इस प्रश्न का उत्तर मिल भी जाए, यदि हम यह जान सकें कि ईमानदारी का नियम लागू करने के लिए यही उपयुक्त मामला है तो भी हम यह कैसे जान सकेंगे कि यह नियम उसके किस ख़ास विवरण को विस्तार से जानना चाहता है? कारण, कोई नियम सभी मामलों में लागू हो सके, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह एक मामले को दूसरे मामले से भिन्न करने वाली परिस्थितियों की पूर्ण उपेक्षा कर दे; उसमें सिर्फ वही थोड़े-से तत्त्व रहें जो सभी ईमानदारी के कामों में समान रूप से विद्यमान होते हैं। यदि सचमुच नियम का यह कंकाल-मात्र रह जाएगा तब उसमें इस विधान के सिवाय कुछ शेष नहीं रहेगा कि 'हर परिस्थितियों में ईमानदार रहो'; किसी विशिष्ट परिस्थिति में ईमानदारी का अभिप्राय **क्या** है, यह उसमें नहीं बताया जाएगा; यह भाग्य पर या सम्बद्ध व्यक्ति के सामान्य विवेक पर अथवा किसी वाह्य आप्त पर छोड़ दिया जाएगा।

यह कठिनाई इतनी गम्भीर है कि उन सभी प्रणालियों को, जिन्होंने कुछ खास बँधे-बँधाए नियमों पर इसलिए विश्वास किया है कि वे अन्तःकरण से उद्भूत होते हैं या ईश्वर ने स्वयं उन्हें उन्हीं शब्दों में मनुष्य की आत्मा को प्रदान

किया या किसी अन्य बाह्य रूप में अभिव्यक्त किया है, 'यथासम्भव सभी मामलों को अपने अन्तर्गत लाने के लिए अधिकाधिक जटिल प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। ये प्रणालियाँ अन्ततः नैतिक जीवन को एक व्यापक नियमानुवर्तनवाद या विधि-निष्ठावाद में परिणत कर देती हैं।

उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, हम मूसा के दस ईश्वरीय आदेशों से प्रारम्भ करते हैं। ये आदेश सिर्फ दस हैं, इसलिए स्वाभावतः वे सामान्य विचार हैं और साथ ही मुख्यतः नकारी या निषेधात्मक आकार में व्यक्त किये गए हैं। इसके अलावा एक ही कार्य इनमें से एक से अधिक आकारों के अन्तर्गत लाया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में जो व्यावहारिक परेशानियाँ और अनिश्चित-ताएँ अनिवार्यतः पैदा हो जाती हैं, उनका समाधान करने के लिए एक **किंकर्त्तव्य मीमांसा** (कैजुइस्ट्री, जिसका मूल्य लैटिन भाषा का कैसस अर्थात् केस शब्द है) का उद्भव होता है। यह प्रयत्न किया जाता है कि जितनी भी क़िस्म के कार्य हो सकते हैं, उन सबकी पहले से कल्पना कर ली जाए और उन सबके लिए पहले से ही अलग-अलग नियम भी बना लिये जाएँ। उदाहरण के लिए 'हत्या मत करो'—इस नियम के सम्बन्ध में उन सब परिस्थितियों की सूची बनाई जाएगी जिनमें हत्या की जा सकती है—दुर्घटना, युद्ध, राजनीतिक दृष्टि से ऊँची स्थिति वाले व्यक्ति की आज्ञा का पालन (जैसे जल्लाद करता है), आत्म रक्षा (अपने या दूसरों के जान-माल की रक्षा), विभिन्न उद्देश्यों (ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध आदि) से जान-बूझकर या विचार-पूर्वक की गई हत्या, अथवा स्वल्प पूर्व योजना से, आकस्मिक आवेग से या विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से की गई हत्या। इन सभी प्रकार की हत्याओं के बारे में नियत कर दिया जाता है कि इनमें ठीक कितनी नैतिकता है, कितनी अनैतिकता और कितनी निर्दोषता। और यह प्रक्रिया केवल प्रकट बाह्य कार्यों पर ही समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि कार्य के समस्त आन्तरिक स्रोतों का भी, जीवन के प्रति आदर को प्रभावित करते हैं, इसी तरह वर्गीकरण करना पड़ेगा; उादहरण के लिए ईर्ष्या, द्वेष, आकस्मिक क्रोध, उदासी, अपमान, अत्याचारपूर्ण अधिकार या सत्ता का मोह, कठोरता, शत्रुता, निष्ठुरता—इन सभी का अलग-अलग विशिष्ट वर्गीकरण करना पड़ेगा और उन सबके नैतिक मूल्य निर्धारित करने होंगे। एक प्रकार के सम्बन्ध में जो कुछ किया गया होगा वही समूचे नैतिक जीवन के हर भाग और हर पहलू के लिए तब तक करते जाना होगा जब तक कि सभी कार्यों की पूरी सूची न बन जाए और उन सबका अलग-अलग वर्गीकरण न कर दिया जाए।

नैतिक जीवन को इस दृष्टि से देखने में अनेक ख़तरे और बुराइयाँ हैं—

(क) **यह दृष्टिकोण नैतिकता की भावना को दबाकर उसके शब्दों पर अधिक बल देता है।** वह किसी काम के भावात्मक या सरकारी श्रेयस् पर ध्यान नहीं देता,

न कर्त्ता की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति पर जो उस कार्य की आधार होती है, ध्यान देता है और न उस विशिष्ट अवसर या प्रसंग पर जो उस कार्य का वातावरण बनाता है। इसके विपरीत वह इस बात पर ध्यान देता है कि वह कार्य अमुक नियम के, अमुक वर्ग के, अमुक खण्ड के, अमुक उपखण्ड आदि के अन्तर्गत आता है या नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि आचरण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और उसकी गहराई भी कम हो जाती है। (1) यह दृष्टिकोण कुछ लोगों को अपने काम के ऐसे वर्गीकरण के लिए प्रलोभित करता है, जो उनके लिए सबसे अधिक सुविधाजनक और लाभकारी हो। आम प्रचलित धारणा के अनुसार 'किंकर्त्तव्यमीमांसा' व्यक्ति के कामों का निर्णय करने की ऐसी विधि है जिसमें खूब बाल की खाल खींचकर कामों की ऐसी विधि निकाली जाती है जिससे व्यक्तिगत हित और लाभ साधा जा सके और फिर भी जो किसी-न-किसी ढंग से नैतिक सिद्ध की जा सके। (2) कुछ अन्य लोगों में नैतिक नियमों के शब्दशः पालन से आचरण को सर्वथा नियमानुवर्ती और एक बँधी-बँधाई वस्तु मान लेने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इससे लोगों के मन में आचरण की एक कठोर और बँधी-बँधाई निश्चित धारणा बन जाती है, जैसी कि पुराने ज़माने में यहूदियों के फ़ारसी सम्प्रदाय में थी और आधुनिक युग में शुद्ध धर्मवादियों (प्योरिटन) में है। दोनों की नैतिक प्रणालियाँ बँधे-बँधाये नैतिक नियमों की धारणाओं से ओत-प्रोत हैं।

(ख) **आचारशास्त्र की इस प्रणाली का व्यवहार में आचरण के क़ानूनी दृष्टिकोण की ओर भी झुकाव रहता है।** ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रणाली का विकास हमेशा क़ानूनी विचारों को नैतिकता में ले जाने से ही हुआ है। क़ानूनी दृष्टिकोण में व्यक्ति का दोषारोपण का पात्र होना और किसी उच्च अधिकारी सत्ता द्वारा बाहर से दंड का भाजन होना अवश्य ही प्रमुख रूप ग्रहण करता है। इस दृष्टिकोण में आचरण का 'यह करो' और 'यह न करो' के निश्चित आदेशों और निषेधों से नियमन किया जाता है। ऊपर हमने हत्या के सिलसिले में जिस विश्लेषण का उल्लेख किया है, वैसा विश्लेषण आवश्यक है, ताकि अपराध को नापने और आरोप निर्धारित करने के लिए निश्चित और नियमित तरीके अपनाए जा सकें। यह ठीक है कि दायित्त्व, दंड और पुरस्कार जीवन के संचालन में महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, परन्तु नैतिक नियमों की ऐसी कोई भी प्रणाली दोषपूर्ण होगी जो दंड से बचने के प्रश्न को मनुष्य के ध्यान का प्रधान विषय बनाती है या जो लोगों में यह भावना पैदा करती है कि यदि वे आदेश या नियम का पालन कर दें तो फिर उन्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

(ग) **सम्भवतः इस नैतिक प्रणाली की सबसे बड़ी खराबी यह है कि इसमें नैतिक जीवन को स्वतन्त्रता और स्वतोभावित्व से वंचित करने की प्रवृत्ति रहती है** और वह बाहर से थोपे गए नियमों को न्यूनाधिक उत्सुकता से गुलामों की तरह

पालन करने को ही नैतिक जीवन समझने की भावना पैदा करती है (ख़ासकर उन अन्तर्भावनाशील व्यक्तियों में जो नैतिक जीवन के बारे में बहुत गम्भीर होते हैं)। सिद्धान्त का वफ़ादारी के साथ पालन करना एक सदुद्देश्य है, किन्तु यह योजना एक तरह से उसी को एकमात्र सदुद्देश्य मान लेती है और उसे आदर्शों के प्रति वफ़ादारी के रूप में नहीं बल्कि आदेशों के पालन के रूप में ग्रहण करती है। इस प्रणाली के अनुसार नैतिक नियम अपने-आपमें स्वतन्त्र निर्णय के रूप में विद्यमान हैं और उचित यह है कि उनका सिर्फ अनुपालन किया जाए। इससे नैतिक गुरुता-केन्द्र जीवन की मूर्त प्रक्रियाओं से बाहर जा पड़ता है। ऐसी सभी प्रणालियाँ जिनमें भावना की अपेक्षा शब्द पर, सजीव प्रयोजनों की अपेक्षा क़ानूनी परिणामों पर अधिक बल दिया जाता है, वे व्यक्ति पर बाह्य आप्त या अधिकारी का दबाव डाल देती हैं। ये प्रणालियाँ मनुष्य को ऐसे आचरण की ओर ले जाती हैं, जिसे सन्त पाल ने क़ानूनी आचरण कहा है, भावनात्मक नहीं, और उसका परिणाम यह होता है कि उसके मन पर हमेशा चिन्ता, अनिश्चित संघर्ष और आसन्न विनाश का बोझ सवार रहता है।

बहुत-से लोग, जो आचरण की ऐसी सभी प्रणालियों पर बलपूर्वक ऐतराज़ करते हैं, ऐसी हर चीज़ पर आपत्ति करते हैं जो बाह्य आदेशों, आप्तों और दंड व पुरस्कार पर बल देकर आचरण को औपचारिकता और बँधे-बँधाये आकारों में परिणत कर देती हैं, वे यह नहीं देख पाते कि यह बुराई तो किसी भी बँधे-बँधाये नियम को अन्तिम मान लेने की हर प्रवृत्ति के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है! वे इस प्रकार की नैतिक प्रणाली में जिस चीज़ पर आपत्ति करते हैं, उसके लिए कुछ संगठनों, धर्माधिकारियों, राजनीतिक या क़ानूनी अधिकारियों को उत्तरदायी ठहराते हैं; किन्तु इसके बावजूद वे स्वयं इस विचार से चिपटे रहते हैं कि कुछ ख़ास कामों और योजनाओं को कुछ निरपेक्ष और अपरिवर्त्तनशील नैतिक नियमों में बाँध देना ही नैतिकता है। किन्तु वे यह नहीं समझ पाते कि यदि ऐसा ही होता तो जो लोग इस प्रकार की नैतिकता को व्यावहारिक बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्था उपलब्ध करते हैं, वे निन्दा के नहीं प्रशंसा के पात्र हैं। वास्तव में निरपेक्ष और अपरिवर्त्तनीय नियमों या आदेशों की कल्पना तब तक क्रियात्मक हो ही नहीं सकती, जब तक कि कुछ उच्च अधिकारी उनकी घोषणा न करें और उन्हें लागू न करें। लॉक का कहना है—"सिद्धान्तों का उपदेष्टा और असन्दिग्ध सत्यों का शिक्षक होना मनुष्य को दूसरों पर जो अधिकार प्रदान करता है वह साधारण नहीं है।"

सिद्धान्तों और नियमों को एक समझ लेने से व्यावहारिक दृष्टि से एक और भी हानिकर परिणाम होता है। उदाहरण के लिए न्याय को लीजिए। न्याय का अर्थ आचरण का उचित नियम है, यह धारणा एक प्रकार से सार्वत्रिक है; अपराधियों को छोड़कर शेष सभी लोग इसे स्वीकार करेंगे। किन्तु मूर्त्त व्यवहार में

न्याय की माँग क्या है ? दंड-शास्त्र, जेल-सुधार कर, व्यय-नियामक कानून, ट्रस्ट, पूँजी और श्रम के सम्बन्ध, सामूहिक सौदेबाजी, लोकतंत्रीय शासन, सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं पर निजी या राजकीय स्वामित्व, सामाजिक बनाम निजी सम्पत्ति आदि की वर्तमान स्थिति यह सिद्ध करती है कि यद्यपि सभी लोग यह कहते हैं कि उनकी न्याय को ही कर्म का नियात्मक मानने में आस्था है और उनकी सदाशयता भी समान रूप से असन्दिग्ध होती है तथापि वे सब व्यवहार में न्याय का अर्थ भिन्न-भिन्न समझते हैं। किन्तु यदि हम न्याय को नियम के बजाय सिद्धान्त मानें तो न्याय का अर्थ होगा खास-खास प्रथाओं और नियमों के क्रियात्मक रूप का इस उद्देश्य से **अध्ययन** करना कि उनके द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले परिणामों को कैसे अधिक निष्पक्ष और समदर्शी बनाया जा सकता है।

इस विचार से हम सच्चे नैतिक सिद्धान्तों के स्वरूप के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर पहुँचते हैं। **नियम क्रियात्मक होते हैं; वे किसी काम को करने के आभ्यासिक तरीके हैं। किन्तु सिद्धान्त बौद्धिक होते हैं, वे क्रिया के सम्भावित मार्गों के बारे में विवेक और निर्णय करने के अन्तिम तरीके हैं।** अन्तर्ज्ञानवादी की बुनियादी ग़लती यह है कि वह ऐसे नियमों की खोज करता है जो कर्त्ता को स्वयं यह बता दें कि उसे किस मार्ग का अवलम्बन करना है। **दूसरी ओर नैतिक सिद्धान्त का उद्देश्य ऐसे दृष्टिकोण और विधियाँ प्रदान करना है जिनकी** सहायता से **वह किसी भी विशिष्ट परिस्थिति के, जिसमें वह पड़ जाए, अच्छे और बुरे तत्त्वों का स्वयं अपने लिए विश्लेषण कर सके।** कोई भी सच्चा नैतिक सिद्धान्त किसी विशिष्ट कार्यप्रणाली का विधान नहीं करता। नियम[1] पाक-विधियों की भाँति यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति को क्या और कैसे करना चाहिए। किन्तु नैतिक सिद्धान्त, उदाहरण के लिए पवित्रता, न्याय और सुनहरे नियम का सिद्धान्त, कर्त्ता को सिर्फ़ एक आधार प्रदान करता है जिससे कि वह किसी भी समय उठने वाले किसी भी विशिष्ट प्रश्न की स्वयं परीक्षा कर सके। वह उसके सामने काम के कुछ पहलू उपस्थित करता है; वह उसे चेतावनी देता है कि वह उस काम को अदूरदर्शिता और एकपक्षीय दृष्टि से न देखे; वह उसके चिन्तन की कुछ बचत कर देता है क्योंकि वह कुछ मुख्य-मुख्य बातें उसके सामने प्रस्तुत कर देता है जिनसे कि वह अपनी इच्छाओं और अपने प्रयोजनों के प्रभाव पर विचार कर सकता है; वह उसके सामने कुछ महत्त्वपूर्ण विचारों को, जिनके लिए उसे सजग रहना चाहिए, प्रस्तुत कर उसका पथ-प्रदर्शन करता है।

इस प्रकार एक नैतिक सिद्धान्त किसी काम को एक खास ढंग से करने का

1. निःसन्देह 'नियम' शब्द का प्रयोग अक्सर सिद्धान्त को बताने के लिए किया जाता है, जैसा कि 'सुनहरे नियम' में। इसलिए यहाँ हम वास्तव में 'नियम' शब्द का नहीं, बल्कि उसमें निहित अर्थ का उल्लेख कर रहे हैं।

आदेश या निषेध नहीं है; **वह किसी भी विशिष्ट स्थिति का विश्लेषण करने का एक साधन** है, जिसके द्वारा उचित या अनुचित का निर्णय किसी नियम से नहीं, बल्कि समग्र रूप से होता है।

उदाहरण के लिए हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि यदि सुनहरे नियम को सर्वत्र अपना लिया जाए तो सभी औद्योगिक विवाद ख़त्म हो जाएँ। किन्तु कल्पना कीजिए कि सभी लोग सच्चे विश्वास के साथ इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं, तो भी यह सिद्धान्त हर आदमी को एकदम यह नहीं बतायेगा कि उसे दूसरों के साथ अपने तरह-तरह के जटिल सम्बन्धों में क्या करना चाहिए। जब व्यक्ति स्वयं अभी तक यह भरोसा नहीं कर सकते कि उनका वास्तविक हित या श्रेयस् क्या है, तब उनसे यह कहने से भी कि वे अपने हित के समान ही दूसरे का हित भी देखें, प्रश्न का समाधान नहीं होगा। न उसका यही अर्थ है कि जो कुछ हम अपने लिए चाहते हैं ठीक वही दूसरों को भी देने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। मैं शास्त्रीय संगीत का शौकीन हूँ इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उसे अपने पड़ोसी पर भी यथासम्भव थोप दूँ। किन्तु 'सुनहरा नियम' हमें एक ऐसा **दृष्टिकोण** अवश्य देता है **जिससे हमें सब कामों को परखना चाहिए,** वह हमें यह बताता है कि हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमारे काम हमारे अपने हितों की भाँति दूसरों के हितों पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं; वह हमें किसी भी काम को पक्षपातपूर्ण दृष्टि से देखने से रोकता है; वह हमें चेतावनी देता है कि हम किसी सुखमय या दुःखमय परिणाम को सिर्फ इसलिए अनुचित रूप में न आँकें कि वह हमें प्रभावित करता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सुनहरा नियम हमें कोई विशेष आदेश या आज्ञाएँ नहीं देता, किन्तु वह उन स्थितियों को हमारे सामने स्पष्ट रूप में प्रतिभासित करके अवश्य रख देता है जिन पर बुद्धिमत्तापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

पिछले अध्याय में हमने सुख (सर्वसामान्य के कल्याण के अर्थ में) को उद्देश्य के रूप में और पैमाने के रूप में स्वीकार करने में जो अन्तर बताया है उसमें भी वास्तव में यही भेद अन्तर्निहित है। यदि सुख को कामों का सीधा उद्देश्य समझा जाए तो उसका अर्थ यह होगा कि वह एक सुनिश्चित और अपरिवर्त्तनीय वस्तु है। किन्तु जब उसे एक पैमाने के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब वह एक प्रकार का चेतावनी देने वाला निर्देश होगा, जो हमें यह बतायेगा कि जब हम किसी सम्पन्न या प्रस्तावित कार्य को अनुमोदन या अननुमोदन की दृष्टि से तोलें तब हमें पहले उस कार्य के परिणामों पर सामान्य रूप से विचार करना चाहिए और उसके बाद दूसरों के कल्याण को प्रभावित करने वाले उसके परिणामों की दृष्टि से। एक पैमाने या प्रतिमान की दृष्टि से वह हमें यह बताता है कि हमें सभी दिशाओं में क्या संगत दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, किन्तु वह पहले से ही

हमें यह बताने का दावा नहीं करता कि सर्वसामान्य का कल्याण या सामान्य श्रेयस् क्या है। वह इस बात के लिए गुंजाइश छोड़ देता है कि हम स्वयं इस बात की खोज करें कि कल्याण किस-किस बात में है और विभिन्न परिस्थितियों में कौन-सी एक या एकाधिक बातें कल्याणकारी होंगी। यदि पैमाने को हम नुस्खे या पाक-विधि की भाँति एक नियम के रूप में ग्रहण करें तो उसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य हर स्थिति पर औचित्य और सुख की पहले से ही बँधी-बँधाई निश्चित और पूर्ण धारणा के अनुसार, जिसमें तिल-भर भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता, विचार करे ताकि यह धारणा गणित के सूत्रों की भाँति लागू की जा सके। पैमाने को जब इस दृष्टि से प्रयुक्त किया जाता है तब वह व्यक्ति में अपने-आपको अच्छा समझने की भावना, नैतिक अहंकार और कठमुल्लापन पैदा करता है। किन्तु जब पैमाने को स्थितियों की जाँच के लिए एक दृष्टिकोण या आधार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है तब उसमें कल्पना को नई अन्तर्दृष्टियाँ प्राप्त करने के लिए खुलकर खेलने का अवसर मिलता है। उस दशा में वह इस बात पर निरन्तर अधिकाधिक विचार करने की, कि किसी विशिष्ट मूर्त्त स्थिति में सुख क्या है, अनुमति ही नहीं देता, बल्कि यह विचार करना उसकी दृष्टि में अनिवार्य होता है।

इसका निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ तक नैतिक पहलू का सम्बन्ध है ज्ञान के बारे में महत्त्वपूर्ण बात उसका वास्तविक विस्तार नहीं है, बल्कि उसकी इच्छा है—अर्थात् आचरण को सर्वसामान्य हित पर उसके प्रभावों की दृष्टि से परीक्षा करने की सक्रिय इच्छा। मनुष्य का वास्तविक ज्ञान और अन्तर्दृष्टि उसके जन्म, शिक्षा और सामाजिक परिवेश की परिस्थितियों के कारण सीमित होते हैं। अन्तर्ज्ञानात्मक सिद्धान्त की यह धारणा है कि हर व्यक्ति में एक-जैसे और समान नैतिक विवेक होते हैं, तथ्य के विपरीत है। फिर भी कुछ ऐसे सर्वसामान्य मानवीय अनुराग और आवेग होते हैं, जो हर सामाजिक परिस्थिति में अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। संसार में ऐसी कोई भी जाति या समाज नहीं है जिसके सदस्य मानवीय जीवन, बच्चों की देखभाल, अपनी जन-जाति और समाज की रूढ़ियों आदि के मूल्यों में विश्वास न करते हों, भले ही उन मूल्यों के प्रयोग में वे कितने ही सीमित या एकपक्षीय रहें। किन्तु संस्कृति के हर स्तर पर इससे आगे भी इस बात के लिए सतर्क रहने की सम्भावना है कि मौजूदा नैतिक विचारों के अर्थ को और भी व्यापक और गहरा बनाने के अवसर मिल सकते हैं। किसी भी जाति-वर्ग या सभ्यता की सभी परिस्थितियों में श्रेयस् या अच्छाई को खोजने का रवैया अपनाया और विकसित किया जा सकता है। शिक्षा के सामान्य प्रचलित अर्थ में जो व्यक्ति अज्ञानी समझे जाते हैं, उनमें भी श्रेयस् क्या है इसकी खोज करने या विचार करने की दिलचस्पी हो सकती है,

जबकि उच्च-शिक्षित और सुसंस्कृत लोगों में भी इसका अभाव हो सकता है। इस दिलचस्पी की दृष्टि से वर्गभेद-जैसी कोई चीज़ नहीं हो सकती। ज्ञान का नैतिक गुण उसके सन्धारण में नहीं, वल्कि उसकी वृद्धि की आकांक्षा में है। बँधे-बँधाये सुनिश्चित पैमानों और नियमों की असली बुराई यह है कि वे लोगों में वर्तमान स्थिति से ही सन्तुष्ट रहने और अपने पहले से ही मौजूद विचारों और निर्णयों को ही पर्याप्त और अन्तिम समझने की वृत्ति पैदा करते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि नैतिक ज्ञान में निरन्तर सुधार और उसका विस्तार किया जाए और यह इस बात का एक बड़ा कारण है। कि क्यों नैतिकेतर ज्ञान और सच्चे नैतिक ज्ञान के बीच में कोई विभाजक खाई नहीं है। जो अवधारणाएँ किसी समय जीव-विज्ञान या शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र की समझी जाती थीं वही एकाएक नैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बन सकती हैं। जब कभी यह मालूम होगा कि इन अवधारणाओं का सर्वसामान्य हित पर प्रभाव पड़ता है, तभी नैतिक दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण बन जाएँगी। जब मनुष्य को जीवाणुओं और रोगाणुओं का और रोगों के प्रसार के साथ उनके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त हुआ, तो व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार की स्वच्छता का नैतिक दृष्टि से इतना महत्त्व हो गया, जितना पहले कभी नहीं था। कारण, मनुष्य ने यह देखा कि वे समाज के स्वास्थ्य और कल्याण पर प्रभाव डालते हैं। मानसिक रोग चिकित्सक और मनोवैज्ञानिक अपने-अपने टैकनिकल क्षेत्रों में काम करते हुए ऐसे तथ्यों और सिद्धान्तों को प्रकाश में लाए हैं जो पुरानी धारणाओं को, उदाहरणार्थ दण्ड और उत्तरदायित्व सम्बन्धी मान्यताओं को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं; खासकर प्रवृत्तियों के निर्माण में उनका जो स्थान है, उस पर उनका बहुत प्रभाव पड़ता है। मिसाल के तौर पर, अध्ययन से यह मालूम हुआ है कि बच्चे बिगड़कर माता-पिता अथवा समाज के लिए समस्या इसलिए बनते हैं कि उनके परिवारों की परिस्थितियों और उनके कार्यों के प्रति माता-पिता की प्रतिक्रिया उन्हें वैसा बनने के लिए मजबूर कर देती है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मन और चरित्र में जो बहुत-सी विकृत अवस्थाएँ बाद में पैदा हो जाती हैं उनका कारण प्रारम्भिक जीवन में बच्चे की भावनाओं का ज़बर्दस्ती अवरोध और ग़लत समंजन होता है। यद्यपि इन तथ्यों को अभी तक न तो आम लोगों ने भली-भाँति समझा है और न उन पर अमल किया है, तथापि नैतिक दृष्टि से उनका अन्ततः जो महत्त्व है वह इतना बड़ा है कि सहज में उसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। किसी समय जो ज्ञान टैकनिकल दृष्टि से भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र तक ही सीमित था, वह अब उद्योगों में भी इस्तेमाल किया जाता है और व्यक्तियों के जीवन और सुख पर उसका कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार के उदाहरणों की एक अनन्त सूची प्रस्तुत की जा सकती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम नैतिक ज्ञान और विवेक पर एक सीमा लगा दें तो नैतिक महत्त्व के बारे में हमारी प्रतीति भी सीमित हो जाएगी। सामाजिक मामलों में लकीर के फ़कीर और प्रतिक्रियावादी लोगों और सच्चे अर्थों में प्रगतिशील व्यक्तियों में अन्तर का एक बड़ा कारण यह है कि लकीर के फकीर और प्रतिक्रियावादी लोग नैतिकता को बँधे-बँधाए और अपरिवर्तनीय कर्त्तव्यों और मूल्यों के एक दायरे में सीमित और बँधा हुआ समझते हैं। किन्तु आधुनिक युग का अधिकतर गम्भीर नैतिक समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जबकि हम आमतौर पर यह अनुभव कर लें कि वास्तविकता इसके विपरीत है। सम्भवतः वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वैज्ञानिक और नैतिक ज्ञान के बीच की परम्परागत दीवार को गिरा दिया जाए ताकि समस्त उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान को मानवोचित और सामाजिक उद्देश्यों में उपभोग के लिए संगठित किया जाए और उसके लिए सतत प्रयत्न भी किया जाए।

इसलिए यहाँ उस विषय को फिर से स्मरण कराने की कोई आवश्यकता नहीं है जिससे हमने पिछला अध्याय समाप्त किया था। वह विषय था—मुख्य नैतिक अवधारणाओं पर सामाजिक परिवेश का प्रभाव। यदि हम यह मान लें कि अन्तर्ज्ञानवाद ही अपने किसी कठोर रूप में सही है तभी संस्कृति और ज्ञान की वृद्धि के वे रूप, जिन्हें आमतौर पर नैतिकेतर कहा जाता है, विशुद्ध नैतिक ज्ञान और विवेक के लिए महत्त्वहीन और निरर्थक होंगे। किन्तु क्योंकि नैतिक और नैतिकेतर दोनों ज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं, इसलिए हर पीढ़ी पर, ख़ासकर उस पीढ़ी पर जो आज के से युग में रह रही है, यह ज़िम्मेदारी है कि वह अपने पूर्वजों से विरासत में पाय गए नैतिक सिद्धान्तों में आमूलचूल सुधार करे और समकालीन परिस्थितियों और आवश्यकता की दृष्टि से उन पर पुनर्विचार करे। इसका यह अर्थ लगाना मूर्खतापूर्ण होगा कि सभी नैतिक सिद्धान्त समाज की एक विशिष्ट स्मिति के साथ इतने सापेक्ष रूप से सम्बद्ध हैं कि किसी भी सामाजिक परिस्थिति में वे अपरिहार्य और अनिवार्य नहीं हो सकते। हम पर यह ज्ञात करने की ज़िम्मेदार है कि **कौन-से** सिद्धान्त हमारी अपनी सामाजिक स्थिति के साथ संगत हैं। और क्योंकि यह सामाजिक परिस्थिति एक तथ्य है, इसलिए जो सिद्धान्त उससे सम्बद्ध हैं वे वास्तविक और अर्थपूर्ण हैं, भले ही किन्हीं अन्य सामाजिक परम्पराओं, संस्कृति और वैज्ञानिक ज्ञान के साथ उनकी संगति न हो। एक ही जैसे और अपरिवर्तनीय नैतिक सिद्धान्तों पर आग्रह करने और इस बात पर ज़ोर देने से कि हर समय और हर स्थान पर वे वैसे ही रहते हैं, मनुष्यों में विद्रोही वृत्ति पैदा होती है जो यह कहती है कि ये सब सिद्धान्त रूढ़ि जन्य हैं और नए पैमाने में वैध नहीं हैं। यदि

हम यह स्वीकार और अनुभव कर लें कि सामाजिक ताकतों के साथ उनका निकट का और महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है तो उससे हममें उन सिद्धान्तों की खोज की भावना उत्पन्न और प्रबल होगी, जो हमारे अपने ज़माने के अनुकूल और उसके साथ संगत हैं।

6

# नैतिक व्यक्तित्व

## 1. व्यक्तित्व और चयन

पिछले अध्यायों में की गई चर्चाओं में 'स्व' या व्यक्तित्व का एक केन्द्रीय स्थान रहा है और उनमें हमने अच्छे व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को प्रकट किया है। व्यक्ति बुद्धिमान् और दूरदर्शी होना **चाहिए** और उसे व्यापक परतुष्टि को दृष्टि में रखकर किसी एक तात्कालिक एकाकी तृष्णा की परितुष्टि को गौण बना देना चाहिए; उसे दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों के कारण उत्पन्न दावों को स्वीकार करने में पूरी तरह **वफ़ादार** रहना चाहिए; उसे दूसरों की प्रशंसा और निन्दा में, अनुमोदन और अननुमोदन में विवेकी और **विचारपूर्ण** होना चाहिए; और अन्त में उसे **अन्तर्भावनाशील** होना और नये मूल्यों की खोज और पुरानी धारणाओं के संशोधन में सक्रिय रूप से इच्छुक रहना चाहिए। किन्तु हमने व्यक्तित्व के अर्थ और अभिप्राय पर अभी तक विचार नहीं किया है। नैतिक आचरण में और साथ ही उसके चारों ओर केन्द्रित नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धी विभिन्न विवादों में व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण स्थिति को देखते हुए यह विचार करना आवश्यक हो जाता है। परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख करने से यहाँ वे मुद्दे हमारे सामने स्पष्ट हो जाएँगे, जिन पर विशेषरूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

अब तक जिन विषयों पर हमने विचार किया है उनमें एक गहरी विभाजक रेखा हमें दीख पड़ती है। कुछ सिद्धान्तों की मान्यता यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व अर्थात् स्व ही, जिसमें उसके कर्म भी शामिल हैं, सर्वोच्च और एकमात्र नैतिक उद्देश्य है। यह विचार काण्ट के इस कथन में भी व्यक्त होता है कि सत् इच्छा ही, जो किये गए कामों के परिणामों से सर्वथा पृथक् और व्यतिरिक्त है, एकमात्र नैतिक श्रेयस् है। इसी प्रकार का आशय उस समय भी होता है, जब नैतिक अच्छाई को ही सद्गुण या सदाचरण बताया जाता है और यह कहा जाता है कि संक्षेप में एक अच्छे आदमी का अन्तिम उद्देश्य अपने गुण या धर्म की रक्षा करना है। जब एकमात्र व्यक्तित्व को ही **उद्देश्य** मान लिया जाता है, तब आचरण, कार्य, परिणाम अच्छे व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए साधन मात्र—बाह्य उपकरण **मात्र** मान लिए जाते हैं। इसके विपरीत विचार प्रारम्भिक उपयोगितावादियों के सुखवाद में पाया जाता है, जहाँ कि एक ख़ास प्रकार के परिणाम यानी सुख

ही उत्तम उद्देश्य हैं और व्यक्तित्व और उसके गुण उन परिणामों को उत्पन्न करने के साधन मात्र हैं।

हमारे अपने सिद्धान्त में व्यक्तित्व और परिणाम दोनों को अनिवार्य भूमिकाएँ सौंपी गई हैं। हमने, फलितार्थ और विवक्षा के द्वारा, यह मत प्रकट किया है कि दोनों में से कोई भी दूसरे का साधन मात्र नहीं है। उनमें एक चक्राकार या परस्पराश्रित सम्बन्ध है। व्यक्तित्व **केवल** परिणाम उत्पन्न करने का साधन नहीं है, क्योंकि जब ये परिणाम नैतिक होते हैं तो स्वयं व्यक्तित्व में अनुप्रविष्ट होकर उसका निर्माण करते हैं और व्यक्तित्व भी उनमें अनुप्रविष्ट होता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए एक यान्त्रिक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—ईटें मकान के निर्माण का साधन हैं, किन्तु वे **केवल** साधन ही नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयं अन्ततः मकान का **एक हिस्सा बन जाती हैं**। यदि मकान का अंग होना उन ईंटों के स्वरूप को भी बदल दे तो यह उदाहरण और साम्य पर्याप्त हो जाएगा। इसी प्रकार आचरण और परिणाम भी महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु वे मनुष्य के व्यक्तित्व या स्व से पृथक् होने के बजाय उसका निर्माण, अभिव्यक्ति और परीक्षा करते हैं। जो कुछ हमने अभी औपचारिक रूप से कहा है वह चयन के स्वरूप पर विचार करने से अधिक स्पष्ट और मूर्त्त हो जाएगा, क्योंकि चयन मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे अधिक विशिष्ट और लक्षणात्मक क्रिया है।

चयन अर्थात् समझ-बूझकर विचारपूर्वक किये गए निश्चयों से पूर्व मनुष्य में कुछ स्वतःस्फूर्त चुनाव या **पसन्द** के भाव पैदा होते हैं। हरेक तृष्णा और आवेग चाहे वह कितनी भी अंधी तृष्णा या कितना भी अंधा आवेग हो, एक प्रकार से एक वस्तु की तुलना में दूसरी का चुनाव ही हैं; उनमें एक को चुनकर दूसरी वस्तु का परित्याग कर दिया जाता है। तृष्णा कुछ वस्तुओं की ओर आकृष्ट होती है और मूल्य की दृष्टि से दूसरी वस्तुओं से उन्हें आगे रखती है। ये परित्यक्त वस्तुएँ भी उतनी ही सुलभ और प्राप्य होती हैं, परन्तु एक विशुद्ध वाह्य दृष्टिकोण से उनका परित्याग कर दिया जाता है। हमारी रचना इस प्रकार की है कि अपने मूल स्वभाव और उपार्जित आदतों, दोनों से हम कुछ वस्तुओं को छोड़कर दूसरी वस्तुओं की ओर आकृष्ट होते हैं। यह आकर्षण या पसन्द मूल्यों के तुलनात्मक विवेक से पहले की चीज़ है; यह हमारे स्वभाव में विजड़ित होती है, चेतनाजनित नहीं होती। बाद में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होती हैं जिनमें इच्छाओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा होती है और हम स्वतः ही परस्पर-विरोधी दिशाओं की ओर खिंचते हैं। परस्पर-असंगत पसन्दगियाँ एक-दूसरी को रोके रखती हैं। हम हिचकिचाते हैं और फिर यह हिचकिचाहट पर्यालोचन बन जाती है, अर्थात् मूल्यों की एक-दूसरे के साथ तुलना, जिसका हमने अभी उल्लेख किया है। अन्त में हमारे मन में एक पसन्द का उदय होता है जो स्वगुणनिर्देशात्मक और पर्यालोचन द्वारा दृष्टि में लाये गए

मूल्यों की चेतना पर आधृत होती है। जब हमारे सामने दो वस्तुओं का संघर्ष होता है तब हमें यह देखना होता है कि हम वास्तव में किसे चाहते हैं और फिर उसके अनुसार किसी एक को चुनकर उसके पक्ष में हमें अपना मन पक्का करना होता है। यही चुनाव या चयन है। हम किसी वस्तु को पसन्द तो एकाएक स्वतः स्फूर्त रूप में करते हैं, किन्तु उसका चयन समझ-बूझकर विवेकपूर्वक करते हैं।

इस तरह के हर चयन का व्यक्तित्व के साथ दोहरा सम्बन्ध होता है। यह वर्तमान व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता और भावी व्यक्तित्व का निर्माण करता है। जिस वस्त का चयन किया जाता है वह वस्तु वर्तमान स्व या व्यक्तित्व की इच्छाओं और आदतों के अनुकूल होती है। इस प्रक्रिया में पर्यालोचन एक महत्त्व-पूर्ण भाग लेता है, क्योंकि कल्पना में उदित होने वाली विभिन्न सम्भावनाओं में से हरेक मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना के विभिन्न तत्त्वों को आकृष्ट करती है और इस प्रकार चरित्र की सभी दिशाओं को अन्तिम चयन में हिस्सा लेने का अवसर मिलता है। इस प्रकार पर्यालोचन के परिणामस्वरूप जो चयन अन्ततः किया जाता है वह व्यक्तित्व को रूप भी प्रदान करता है और कुछ हद तक एक नये व्यक्तित्व का निर्माण करता है। यह तथ्य नाजुक अवसरों पर विशेषरूप से नज़र आता है, किन्तु वैसे वह थोड़ा-बहुत हर चयन में दीख पड़ता है। किन्तु हर चयन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितना कि जीवन में व्यवसाय का या जीवन-संगी का चुनाव होता है। किन्तु हर चयन उस संधि-स्थल पर किया जाता है, जहाँ से दो राहें फटती हैं और जो राह चुनी जाती है वह कुछ अवसरों का द्वार बन्द कर देती है और कुछ को खोल देती है। जब मनुष्य किसी एक मार्ग को चुनता है तब वह अपने स्व को एक स्थायी आकार प्रदान करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक वस्तु के मुकाबले दूसरी का चुनाव करते हुए असल में यह चुनाव करता है कि वह कैसा व्यक्ति या स्व बनना चाहता है। ऊपरी तौर पर देखें तो हम यह कह सकते हैं कि जिस पर्यालोचन के फलस्वरूप चयन किया जाता है उसका सम्बन्ध कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के मूल्यों को तोलने से होता है। किन्तु ऊपरी सतह के नीचे गहराई में जाएँ तो यह पर्यालोचन यह मालूम करने की प्रक्रिया है कि कोई मनुष्य कैसा प्राणी बनना सबसे अधिक पसन्द करता है।

इस प्रकार व्यक्तित्व या चरित्र कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन या बाह्य उपकरण **मात्र** नहीं है। यह कुछ परिणामों को प्राप्त करने वाला कर्तृभूत कारण है, और यह बात इससे जाहिर होती है कि जिस प्रकार खिलाड़ी, वकील और व्यापारी अपने भीतर कुछ आदतें पैदा करने के लिए प्रयत्न करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जिन उद्देश्यों में उनकी रुचि है उन तक पहुँचने के लिए यह प्रयत्न कारणात्मक होता है। इन परिणामों की प्राप्ति स्व या व्यक्तित्व के निर्माण के रूप में प्रतिक्रिया करती है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि अरस्तू ने कहा है, अच्छे आदमी की अच्छाई

उसके कामों से ही चमकती है। हम एक-दूसरे के आचरण के बारे में कहते हैं, "वह कितना विशिष्ट था!" इन शब्दों का प्रयोग करते हुए हमारा अन्तर्हित अभिप्राय यह होता है कि व्यक्तित्व कार्य का कारण ही नहीं होता वह उससे कुछ अधिक होता है, जैसे कि दियासलाई केवल आग का कारण ही नहीं होती, उससे कुछ अधिक होती है। हमारा अभिप्राय यह होता है कि व्यक्तित्व या व्यक्ति का स्व उसके कर्म में इतना गहरा अनुप्रविष्ट हो जाता है कि उससे कर्म में उसकी विशिष्टता आ जाती है। व्यक्ति जिस वस्तु का चयन करता है, उसमें अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। फलतः किसी कर्म के सम्बन्ध में किया जाने वाला नैतिक निर्णय उसके कर्ता के चरित्र या व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी निर्णय होता है। जब भी हम किसी व्यक्ति को उसके काम के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं, तब अप्रत्यक्षतः यह स्वीकार करते हैं कि जिस काम के बारे में नैतिक दृष्टि से निर्णय किया जा सकता है उसका उस काम के स्रोत कर्ता के साथ घनिष्ठ और आन्तरिक सम्बन्ध होता है। आलंकारिक भाषा में हम यों कह सकते हैं कि जब हम किसी औषध वनस्पति के बारे में कहते हैं कि उसमें अमुक गुण हैं तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह कुछ वांछित फल पैदा कर सकता है, किन्तु जब हम किसी व्यक्ति के बारे में ऐसा कहते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता कि वह जो कुछ करता है और जैसा रहता है उसमें उसकी गुणात्मक प्रवृत्तियाँ अनुप्रविष्ट हो जाती हैं और उसके कर्म को वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं।

शुरू के उपयोगितावादियों का यह समझना ग़लत था कि सत्प्रवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति कुछ परिणामों के साधन के रूपमें ही उपयोगी है, जिसमें सब वास्तविक अच्छाइयाँ और बुराइयाँ पाई जाती हैं। उसी प्रकार जो वर्ग यह मानता है कि परिणामों का कोई भी नैतिक महत्त्व नहीं है, सिर्फ व्यक्ति ही नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा होता है, उसने भी व्यक्ति और उसके कामोंको अलग करके भूल की है। कारण, इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को, उसकी प्रवृत्तियों के सक्रिय होने पर उनसे उत्पन्न परिणामों का कोई ख़याल किए बिना भी, अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। सच्चाई यह है कि वही व्यक्ति अच्छा है जो अच्छे परिणाम चाहता है और उनके लिए प्रयत्नपूर्वक उद्यम करता है, अर्थात् ऐसे परिणाम जो उसके कार्य से प्रभावित व्यक्तियों के लिए कल्याणकारी हों। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि नैतिकता के किसी भी सही सिद्धान्त की कुंजी **व्यक्ति और उसके नैतिक कार्यों के बीच तत्त्वतः ऐक्य** का स्वीकार करना है। और ग़लती वहीं होती है जहाँ व्यक्ति और उसके कार्यों (और साथ ही उनके परिणामों) का एक-दूसरे से अलग किया जाता है और नैतिक दृष्टि से एक को दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

उन सब निर्णयों में, जो स्पष्टतः नैतिकता सम्बन्धी हैं, व्यक्ति और उसके कामों का ऐक्य अन्तर्निहित है। जिस तरह हम वर्षा को सुखद और बाढ़ को

विनाशकारी कहते हैं, उसी तरह हम किसी भी घटना को उसके परिणामों की दृष्टि से लाभकारी या हानिकारक निर्णीत कर सकते हैं। किन्तु हमारा अभिप्राय उस समग्र नैतिक मूल्यों से नहीं होता, क्योंकि हम वर्षा या बाढ़ के साथ किसी चरित्र या व्यक्तित्व का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। इसी आधार पर हम किसी शिशु, मूढ़ या पागल के कामों के साथ नैतिकता को नहीं जोड़ते। फिर भी एक सामान्य बच्चे के जीवन में ऐसा वक्त आता है जब उसके कामों पर नैतिक दृष्टि से निर्णय किया जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ होना आवश्यक नहीं है कि उसके कामों के जो परिणाम हुए उन्हें वह जान-बूझकर पैदा करना चाहता था। यदि निर्णय भावी व्यक्तित्व या चरित्र के **निर्माण** में, जिससे कि उसके भावी कार्य जान-बूझकर, सोच-समझकर उद्भूत होने हैं, एक उपादान है तब उतना ही काफ़ी है। एक बच्चा भोजन छीनता है, क्योंकि वह भूखा होता है। जब उसे बताया जाता है कि वह उद्दण्ड या लालची है—तब वह एक नैतिक निर्णय होता है। फिर भी यह सम्भव है कि बच्चे के मन में भोजन पर झपट्टा मारते समय सिर्फ यही विचार हो कि यह भोजन खाने से उसकी भूख की तृप्ति होगी। उसके लिए इस कार्य का कोई नैतिक महत्त्व नहीं है। किन्तु उसे उद्दण्ड और लालची कहकर उसके माता-पिता ने उसके भीतर विद्यमान किसी वस्तु का उसके काम के किसी गुण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया है। बच्चे द्वारा वह काम ऐसे ढंग से किया गया था जिससे मालूम होता है कि उसके चरित्र में कुछ अवांछनीय वस्तु है। यदि उसके इस काम पर कोई ध्यान न दिया जाए तो उसकी जड़ मज़बूत हो जाएगी और उसके व्यक्तित्व या चरित्र का निर्माण उसी दिशा में होगा। दूसरी ओर यदि बच्चे को यह समझा दिया जाए कि उसके व्यक्तित्व और उस अवांछनीय काम में एक सम्बन्ध है, एक घनिष्ट ऐक्य है, तो उसका व्यक्तित्व दूसरा रूप धारण कर लेगा।

### 2. व्यक्तित्व और प्रयोजन : रुचि

नैतिक दृष्टि से व्यक्ति और उसके कार्य के बीच एकता प्रयोजनों और उनकी प्रेरणा को समझने के लिए कुंजी है। यदि इस एकता को अनुभव और सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा तो प्रेरक प्रयोजन एक ऐसी बाह्य वस्तु समझा जाएगा जो व्यक्ति पर बाहर से प्रभाव डालती और उसे कुछ काम करने के लिए प्रेरित करती है। जब हम इस दृष्टिकोण का सामान्यीकरण करते हैं तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति का 'स्व' स्वभावतः और आन्तरिक दृष्टि से जड़ और निष्क्रिय होता है इसलिए उसे काम करने के लिए किसी वस्तु द्वारा बाहर से हिलाना-डुलाना और प्रेरित करना पड़ता है। किन्तु सत्य यह है कि व्यक्ति का स्व उसके प्राणभूत आधार जीव की भाँति सदा सक्रिय रहता है और उसका स्वभाव और बनावट ही ऐसी है कि वह काम करता है, और इसीलिए उसे

काम में प्रवृत्त करने के लिए बाहर से किसी पुरस्कार के वायदे या दंड की धमकी की आवश्यकता नहीं होती। यह तथ्य व्यक्तित्व या स्व और कार्य के ऐक्य की पुष्टि करता है।

यदि एक बच्चे का, चाहे वह बहुत छोटा शिशु ही हो, अध्ययन किया जाए तो अध्ययनकर्त्ता को यह यक़ीन हो जाएगा कि जागृत अवस्था में वह हमेशा सक्रिय रहता है, वह शक्ति का एक ऐसा भण्डार होता है जो हमेशा लबालब भरा रहता है। जीव चलना, पहुँचना, पकड़ना, खींचना, कूटना, फाड़ना, साँचे में ढालना, मसलकर नष्ट करना, देखना और सुनना आदि काम करता है। जब वह जगा होता है तब निरन्तर अपने इर्द-गिर्द की परिस्थितियों का खोजता रहता है, और नये सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित करता है। यह ज़रूर सही है कि क्षीण शक्ति की पुनः प्राप्ति के लिए विश्राम और आराम की आवश्यकता होती है। किन्तु किसी स्वस्थ मानव के लिए दीर्घ काल तक विवश होकर निष्क्रिय और बेकार बैठने से अधिक असह्य और कुछ नहीं हो सकता। व्यक्ति को अपनी सक्रियता का हिसाब नहीं देना पड़ता, बल्कि निष्क्रियता का हिसाब देना पड़ता है।

जैसा कि पहले एक अन्य प्रसंग में कहा गया है, यह तथ्य सुखवादी मनोविज्ञान के लिए घातक है। हम पहले काम करते हैं और पीछे सुख-दुःख का अनुभव करते हैं और सुख-दुःख हमारे कामों के परिणाम होते हैं, इसलिए यह बात सम्भवतः सत्य नहीं होगी कि सुख की इच्छा ही व्यक्ति के आचरण का मूलोद्गम है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य का जो फलितार्थ निकलता है, उसका प्रेरक-प्रयोजन-की समूची कलपना में विस्तार किया जा सकता है। यह सिद्धान्त, कि प्रेरक प्रयोजन एक प्रकार की वाह्य प्रेरणा है, जो व्यक्ति पर बाहर से असर डालती है, वास्तव में प्रेरक-प्रयोजन और **उद्दीपन** को भूल से एक ही समझ लेने का परिणाम है। बाह्य परिवेश से प्राप्त होने वाले उद्दीपन आचरण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। किन्तु वे कार्य के कारण अथवा जनक के रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कारण, जीव पहले से ही सक्रिय है और उद्दीपन उसके कार्य के दौरान में ही पैदा होते और अनुभव किए जाते हैं। किसी वस्तु की व्यथाजनक गर्मी हाथ को उस वस्तु से दूर हो जाने के लिए उद्दीपन देती है किन्तु गर्मी उस वस्तु तक पहुँचने और उसे टटोलने की क्रिया के दौरान में अनुभव की जाती है। जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट है, उद्दीपन का कार्य पहले से चले आ रहे **कार्य की दिशा को मोड़ देना है।** इसी प्रकार किसी उद्दीपन के द्वारा पैदा की जाने वाली अनुक्रिया क्रिया का प्रारम्भ नहीं होती, बल्कि वह उद्दीपन द्वारा सूचित परिवर्त्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप क्रिया में हुआ **परिवर्तन** होती है। एक जहाज़ के नौचालक को दूर से ज़मीन नज़र आती है; हो सकता है कि इससे उसे अपना मार्ग बदलना पड़े। किन्तु वह उसके नौचालन का मूल उद्गम नहीं है, सिर्फ उसके

मार्ग परिवर्त्तन का ही सूचक है। उद्दीपनों की भाँति प्रेरक प्रयोजन भी हमें अपने आचरण के मार्ग या झुकाव को बदलने के लिए प्रेरित करते हैं, किन्तु वे हमारे भीतर क्रिया को उद्‌बुद्ध या उत्पन्न नहीं करते।

इस प्रकार प्रेरक प्रयोजन (मोटिव) शब्द सन्दिग्धार्थक है। एक ओर उसका अर्थ वे **रुचियाँ** हैं, जो मनुष्य के व्यक्तित्व का केन्द्र हैं और ऐसे सिद्धान्त उपलब्ध कराती हैं जिनसे कि हम उसके आचरण को समझ सकें। दूसरी ओर उसका अर्थ वह **वस्तु** भी है जो उसकी क्रिया की दिशा में परिवर्त्तन करती है, फिर चाहे वह वस्तु प्रत्यक्ष अनुभव की गई हो या विचारी गई हो। यदि हम इस शब्द के प्रथम अर्थ के आधारभूत स्वरूप के साथ-साथ इन दोनों अर्थों को ध्यान में नहीं रखेंगे तो व्यक्तित्व और आचरण के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारी एक ग़लत धारणा बन जाएगी और यह मूल ग़लती नैतिक सिद्धान्त के सभी भागों में नई-नई ग़लतियाँ पैदा करती जाएगी।

क्रियारत व्यक्ति और किसी उद्देश्य तथा लक्ष्य की एकता का नाम ही रुचि है। माता-पिता बच्चों में रुचि लेते हैं; चित्रकारी या संगीत में कलाकार रुचि लेता है; न्यायाधीश की रुचि इस बात में होती है कि क़ानूनी विवादों का न्यायोचित निबटारा कर दिया जाए और चिकित्सक रोगी के रोग निवारण में रुचि लेता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि रुचि क्रिया की प्रधान दिशा या दिग्दर्शन होती है और इस क्रिया में इच्छा एक ऐसे उद्देश्य के साथ संयुक्त हो जाती है, जिसे सोच-समझकर निर्णायक रूप से चुना गया है और जिसकी पूर्ति की जाती है। यदि आवेग और इच्छा विद्यमान न हों तो व्यक्ति किसी भी काम में दिल नहीं लगाएगा, वह उसके सम्बन्ध में उदासीन, तटस्थ और अनासक्त रहेगा। दूसरी ओर रुचि वस्तुनिष्ठ होती है, क्योंकि मनुष्य किसी वस्तु में दिल लगाता है। किसी अनिश्चित या शून्य वस्तु में रुचि-जैसी कोई चीज़ नहीं होती, हर रुचि किस-न-किसी वस्तु की माँग करती है जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है और जिसके कल्याण अथवा विकास के लिए वह सक्रिय होकर प्रयत्न करती है। यदि एक व्यक्ति कहता है कि उसकी चित्रों में रुचि है तो वह कहता है कि उसे उनकी **चिन्ता** है; यदि वह उनके पास भी नहीं फटकता, यदि वह उन्हें देखने और अध्ययन करने के अवसर पैदा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, तो उसके कार्य, उसके शब्दों को मिथ्या सिद्ध करते हैं और हम यह समझ लेते हैं कि उसकी उसमें नाममात्र की रुचि है। रुचि का अर्थ है किसी वस्तु का आदर, उसकी फ़िक्र और उसके लिए आकांक्षा; यदि वह मनुष्य के कार्य में परिलक्षित न हो तो वह अवास्तविक हो जाती है।

ऐसी दशा में प्रेरक प्रयोजन कार्य के लिए **प्रेरणा** नहीं है, यानी वह ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी काम को करने के लिए प्रेरणा दे। वह समग्र व्यक्तित्व

की गति है, एक ऐसी गति जिसमें इच्छा एक वस्तु के साथ इतने पूर्ण और अखण्ड रूप से जुड़ी हुई है कि वह अपरिहार्य रूप से प्रेरित करने वाले एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। भूखा आदमी भोजन की तलाश करता है। हम कह सकते हैं कि वह भूख से प्रेरित या परिचालित होता है। किन्तु वास्तव में भूख आहार को प्राप्त करने के लिए सक्रिय होने की प्रवृत्ति का ही एक नाम है। व्यक्ति और वस्तुओं के बीच जो सक्रिय सम्बन्ध है उससे एक सत्ता को जन्म देना और फिर इस अमूर्त को इस प्रकार ग्रहण करना, जैसे कि वह आहार की तलाश का कारण हो, एक भ्रममात्र है। जब हम किसी व्यक्ति के बारे में कहते हैं कि एक व्यक्ति दयालुता, या अनुकम्पा, या क्रूरता या विद्वेष से प्रेरित होकर कार्य करता है, तब भी यही बात होती है। ये चीज़ें ऐसी स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं हैं कि किसी व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त कर सकें। ये सब चीज़ व्यक्ति के स्व और वस्तुओं के एक वर्ग के मध्य विद्यमान सक्रिय ऐक्य या सम्बन्ध के प्रकार को प्रकट करने वाले विविध नाम हैं। वास्तव में स्वयं मनुष्य का स्व ही द्वेषी या दयालु होता है और ये विशेषण यह प्रकट करते हैं कि मनुष्य के स्व या व्यक्तित्व की रचना इस प्रकार की है कि वह कुछ वस्तुओं के प्रति एक ख़ास ढंग से कार्य करती है। दयालुता और क्रूरता ऐसी चीज नहीं हैं जिसे मनुष्य अपने पास उसी तरह रखता हो, जैसे वह अपने बटुए में डालर रखता है; बल्कि वह ऐसी चीज है जो वह स्वयं है; और क्योंकि उसका अस्तित्व सक्रिय है, इसलिए ये गुण **कार्य के ढंग** हैं, कार्य को उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ नहीं हैं।

रुचि या प्रेरक प्रयोजन व्यक्ति की आवश्यकता और इच्छा का एक चुनी हुई वस्तु के साथ सक्रिय ऐक्य है, इसलिए एक गौण अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वह वस्तु क्रिया का प्रेरक प्रयोजन है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रिश्वत एक ऐसा प्रयोजन है जो एक विधायक को किसी ख़ास क़ानून के पक्ष में मत देने के लिए प्रेरित करता है और इसी प्रकार लाभ का अर्जन भी एक प्रेरक प्रयोजन है जो दूकानदार को ठीक-ठीक तोलने के लिए प्रेरित करता है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि रिश्वत या लाभ की आशा मनुष्य पर हावी उसके अपने व्यक्तित्व या चरित्र के कारण ही होती है। लोभी व्यक्ति जिन वस्तुओं से प्रेरित होकर काम में प्रवृत्त होता है, उनका एक उदार व्यक्ति के लिए कोई मूल्य नहीं है। एक सीधे-सादे और भोले-भाले व्यक्ति को जो वस्तुएँ प्रेरित करती हैं वे एक धूर्त और चालाक व्यक्ति को अप्रिय लगेंगी। एक विधायक रिश्वत पाकर अपने विश्वास के विरुद्ध मत देने के लिए इस कारण तैयार हो जाता है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व या चरित्र पहले से ही ऐसा बना होता है कि वह पैसे की प्राप्ति को अपने विश्वासों और सिद्धान्तों से अधिक मूल्यवान समझता है। जब हम सारी स्थिति को दृष्टि में रखते हैं तब यह कथन काफ़ी सही प्रतीत होता है कि वस्तु व्यक्ति को प्रेरित

करती है। कारण, एक प्रेरक शक्ति के रूप में **उस वस्तु में व्यक्ति का स्व भी समाविष्ट होता है** । ग़लती तब होती है जब हम उस वस्तु या उद्देश्य को व्यक्ति के स्व से सर्वथा बाहर की चीज़ समझ लेते हैं, और ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वह वस्तु एक सर्वथा अपरिचित व्यक्तित्व को प्रेरित और परिचालित करती है।

जिस गौण अर्थ में हम प्रेरक प्रयोजन का आचरण के मार्ग को **बदल देने वाले** उद्देश्य या वस्तु के साथ ऐक्य मानते हैं, उसका व्यावहारिक दृष्टि से एक महत्त्व-पूर्ण अर्थ है। हमारी आज की-सी दुनिया में, जहाँ कि लोग एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं, और जहाँ एक आदमी के काम का दूसरे आदमी पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, दूसरे आदमियों को किसी काम के लिए प्रेरित करने अथवा उससे विरत करने के लिए उनके कार्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न जीवन का एक सतत कार्य बना रहता है। हम सभी तरह के कारणों से दूसरों के आचरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरों पर प्रभाव डालने की यह क्रिया घर में बच्चों की शिक्षा का सबसे प्रमुख पहलू होती है। यही क्रिया व्यापार में ख़रीदारों और विक्रेताओं को और मुवक्किलों, न्यायाधीश और जूरी के साथ सम्बन्धों में वकीलों को प्रेरित करती है। विधायक, पादरी, पत्रकार और राजनीतिज्ञ सभी अपने निश्चित ढंग से दूसरों के आचरणों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते हैं; वे उनके आचारण में **परिवर्त्तन** लाने का, उसकी दिशा को बदलने का प्रयत्न करते हैं। इन सभी मामलों में हम एक ही क्रिया पद्धति देखते हैं। कुछ ऐसे उद्देश्य लोगों के सामने पेश किए जाते हैं, जिनके बारे में यह ख़याल होता है कि वे उनके स्व को आकृष्ट कर उन्हें अपने कार्य को ऐसा रूप देने के लिए प्रेरित करेंगे, जो रूप उस उद्देश्य के प्रस्तुत न किए जाने पर वे कभी न देते। यही उद्देश्य गौण, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से क्रियात्मक, अर्थ में प्रेरक प्रयोजन कहे जाते हैं। दूसरों के आचरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करने के लिए वे बुनियादी तौर पर महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों में अक्सर ग़लती से यह समझ लिया जाता है कि ये उद्देश्य या वस्तुएँ, जो मनुष्य के कार्य की दिशा को परिवर्त्तित करती हैं, गति या क्रिया को मूलतः प्रारम्भ करने वाले 'प्रेरक उद्देश्य' हैं। इस प्रकार की मान्यता वाले सिद्धान्त व्यक्ति के स्व को निष्क्रिय मान लेते हैं, मानों वे केवल बाहर से ही कार्य में प्रेरित किए जाते हों।

### 3. स्वार्थवाद और परार्थवाद

प्रेरक प्रयोजन की सही धारणा व्यक्ति के स्व और उसके कार्य के ऐक्य के लिए तो महत्त्वपूर्ण है ही, एक अन्य समस्या की दृष्टि से भी वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ब्रिटिश विचारकों के नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों में तो इसको इतनी प्रधानता दी गई है कि हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसे 'नैतिक सिद्धान्तों के चिन्तन की

वास्तविक समस्या' कहा है। यह समस्या स्वार्थवाद और परार्थवाद के, आत्म-हितकारी और परहितकारी कार्यों के, आत्म-रति और परोपकार के, सम्बन्धों की है। इस समस्या का सम्बन्ध नैतिक कार्यों के अभिप्रेरण से है। इसके सम्बन्ध में जो कुछ विचार किया गया है उसमें विभ्रम का कारण यह है कि लोग सभी प्रकार के अभिप्रेरणों की अन्तर्निहित समस्या को भलीभाँति समझने में असमर्थ रहे हैं। यह विभ्रम उन लोगों में सबसे अधिक नज़र आता है जो यह समझते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वार्थ या अपने लाभ से ही प्रेरित होकर कार्य करता है। किन्तु इस समस्या ने उन लोगों को भी प्रभावित किया है जो यह मानते हैं कि मनुष्य परहित की भावना से भी काम करते हैं या जो यह समझते हैं कि केवल परहित की भावना ही नैतिक दृष्टि से न्याय्य प्रेरक प्रयोजन है।

अभिप्रेरण के सम्बन्ध में सही सिद्धान्त यह बताता है कि स्वार्थ और परहिताकांक्षा दोनों ही मनुष्य की उपार्जित प्रवृत्तियाँ हैं, वे हमारी मानसिक रचना के मूल तत्त्व नहीं हैं और दोनों ही नैतिक दृष्टि से अच्छी भी हो सकती हैं और बुरी भी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हमारे सहज आवेग और काम न स्वार्थपरक हैं और न परार्थपरक; अर्थात् न तो वे चेतन स्वार्थ से प्रेरित होते हैं और न चेतन परार्थ से। इसके विपरीत वे परिस्थितियों की सीधी अनुक्रिया होते हैं। जहाँ तक आत्म-रति का सम्बन्ध है, जेम्स ने उसे खूब अच्छी तरह समझाया है। उसका कहना है, "जब मैं आत्म-रति (स्व-प्रेम) से प्रेरित होकर उस समय भी अपनी सीट पर बैठा रहता हूँ जब कि और खाली सीट न होने से स्त्रियाँ खड़ी होती हैं या किसी चीज़ पर पहले कब्ज़ा करके अपने पड़ोसी को उससे वंचित कर देता हूँ तब वास्तव में मुझे अपने-आपसे रति (प्रेम) नहीं होती, बल्कि उस सीट के अथवा उस वस्तु के प्रति अनुराग होता है। मुख्यतः मेरा प्रेम उन्हीं से होता है, उसी तरह जैसे कि एक माँ का अपने बच्चे से या एक उदार व्यक्ति का किसी वीरता या उदारता के काम से। इन उदाहरणों की भाँति किसी भी मामले में जब आत्मानुराग किसी साधारण सहज वृत्ति का परिणाम होता है तब वह वास्तव में किन्हीं प्रतिवर्त्त क्रियाओं का ही दूसरा नाम होता है। कोई चीज़ मेरे ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करती है और एक घातक स्वार्थपूर्ण अनुक्रिया को उत्तेजित करती है।...वास्तव में मैं इस आदिम तरीके से जितना अधिक स्वार्थी होऊँगा उतना ही अधिक मेरा विचार अपने आवेगों और कामनाओं के लक्ष्यों में डूबा रहेगा और उतना ही वह अन्तर की झाँकी पाने से वंचित रहेगा।"[1] दूसरे शब्दों में इस प्रकार के मामलों में कोई विमर्शात्मक गुण, कोई पर्यालोचन या कोई चेतन उद्देश्य नहीं होता। बच्चे को भोजन पर झपट्टा मारते देखकर माता-पिता

1. प्रिंसिपल्स ऑफ साइकालोजी, पृष्ठ 320। पृष्ठ 317 से 329 तक सारा सन्दर्भ पठनीय है।

के मन में जैसी प्रतिक्रिया पैदा होती है वैसी ही प्रतिक्रिया ऐसे मामलों में किसी भी प्रेक्षक के मन में पैदा होगी और वह किसी भी काम को देखकर उसे स्वार्थपूर्ण कह देगा। किन्तु प्रारम्भ में इस अनुक्रिया का अर्थ यह होता है कि यह कार्य **सामाजिक** दृष्टि से आपत्तिजनक है, इसीलिए सम्बद्ध बच्चे को अपने काम के परिणामों के प्रति सजग करने और **भविष्य में** भिन्न प्रकार के परिणामों को अपना उद्देश्य बनाने के लिए प्रभावित करने के लिए उसे डाँटा और समझाया जाता है।

जेम्स ने जो विश्लेषण किया है वह स्वार्थहीन और परहिताकांक्षी कार्यों में भी उसी तरह से लागू होता है जैसे कि बच्चे की आवश्यकताओं के प्रति माता की अनुक्रिया विषयक सन्दर्भ में उद्धृत किया गया है। जो जानकर अपने बच्चों की देख-भाल करता है, वह निस्सन्देह उनकी भलाई का ख़याल किए बिना और समझ-बूझकर उनकी भलाई को अपना उद्देश्य बनाए बिना ही ऐसा करता है। और **मानवीय** माता को अनेक उदाहरणों में अपने बच्चों की देख-भाल करना सिर्फ अच्छा लगता है; उसे इसमें वैसी ही परितुष्टि मिल सकती, जैसी कि किसी 'स्वार्थी' व्यक्ति को मौका पाकर सीट हथियाने में मिलती है। दूसरे शब्दों में किसी विशिष्ट स्थिति के प्रति एक प्राकृतिक अनुक्रिया होती है और उस अनुक्रिया में नैतिक-अनैतिक कुछ नहीं होता, क्योंकि वह पूर्णतः विमर्श रहित होती है, उसमें अच्छे या बुरे **किसी भी** उद्देश्य का कोई ख़याल नहीं होता।

किन्तु बच्चे के कामों के उद्देश्य या प्रेरक प्रयोजन का ख़याल छोड़ भी दें तो भी यदि किसी प्रौढ़ व्यक्ति को यह लगेगा कि बच्चा अपने कामों के **परिणामों** में दूसरों का ख़याल नहीं रखता तो वह उसकी भर्त्सना करेगा और यदि वह देखेगा कि वह दूसरों का ख़याल रखता है तो उसके कामों का अनुमोदन करेगा। ये कार्य बच्चे को एक काम से विमुख और दूसरे की ओर प्रवृत्त करते हैं। इस ढंग से बच्चा धीरे-धीरे अपने और दूसरों के प्रति चेतन होता जाता है और यह अनुभव करने लगता है कि उन पर उसके कामों का अच्छा या बुरा, हितकर या हानिकर प्रभाव पड़ता है। उस दशा में अपने लाभ को और दूसरों के हित को चेतन होकर विचारना निश्चित रूप से मनुष्य के कार्य के **उद्देश्य** का एक हिस्सा बन जाता है। इसके अतिरिक्त दोनों सम्भावनाओं के विचार एक साथ पैदा होते हैं। आदमी को एक निश्चित उद्देश्य के रूप में अपने हित की प्रतीति तब होती है जब उसे उसके मुकाबले में दूसरों के हित की भी प्रतीति हो, इसी तरह दूसरों के हित का भान एक निश्चित उद्देश्य के रूप में उसे तब होता है जब उसके मुकाबले में उसे अपने हित का भी भान हो। वह अपने बारे में चेतन रूप से सिर्फ तभी सोचता है जब वह अपने-आपको दूसरों से भिन्न देखता हो और यह अनुभव करता हो कि वह उनके मुकाबले में खड़ा है।

इस तरह स्वार्थवृत्ति और निःस्वार्थता सही नैतिक अर्थों में अन्त में जाकर पैदा होती हैं, वे पहले से ही विद्यमान स्वाभाविक 'प्रेरक प्रयोजन' नहीं होतीं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चेतन रूप से अपने हित का ख़याल रखना नैतिक दृष्टि से बुरा है और चेतन रूप से दूसरों के हित का ख़याल रखना ज़रूरी तौर पर अच्छा ही है। कोई भी काम सिर्फ इसीलिए स्वार्थपूर्ण नहीं होता कि उसमें अपने भावी कल्याण की चिन्ता दिखाई देती है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि अपने निज के स्वास्थ्य, कार्यकुशलता, अध्ययन की उन्नति का जान-बूझकर ध्यान रखना सिर्फ़ इसलिए बुरा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध अपने-आपसे है। कुछ अवसरों पर इन विषयों में अपना ध्यान रखना नैतिक कर्त्तव्य है। ऐसे कार्य नैतिक दृष्टि से स्वार्थपूर्ण सिर्फ तभी होते हैं, जबकि उनमें दूसरों के दावों की उपेक्षा की जाती है। कोई काम इसलिए ग़लत नहीं होता कि वह अपने कल्याण को समुन्नत करता है, बल्कि वह ग़लत इसलिए होता है कि वह दूसरों के अधिकारों और उचित दावों के बारे में अन्यायपूर्ण और विचारहीन होता है। इसके अतिरिक्त दूसरों की सेवा के सभी कामों में अपने-आपको क़ायम रखने और आत्मरक्षा के भाव तो होते ही हैं। कोई भी नैतिक सिद्धान्त, जिसमें यह स्वीकार न किया जाता हो कि कभी-कभी मनुष्य को विचारपूर्वक अपने हित का भी ख़ासतौर से ध्यान रखना चाहिए, आत्मघातक होगा। अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखने या अपने भौतिक कल्याण के प्रति उपेक्षा बरतने का परिणाम यह हो सकता है कि व्यक्ति दूसरों की कोई भी सेवा करने के योग्य न रहे। यह तर्क भी नहीं दिया जा सकता कि हर आदमी ही स्वभावतः अपने हित की ओर ध्यान देता है, इसलिए उसकी चिन्ता दूसरों को करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरों के हित को और उसके संवर्धन के उपायों को ठीक-ठीक जानना जितना कठिन है, उतना ही कठिन यह जानना है कि व्यक्ति का अपना हित वास्तव में क्या है। यह भी कहा जा सकता है कि स्वाभाविक स्व-हित बुद्धि हमारे 'असली' स्व-हित को हमारी आँखों से ओझल कर देती है, क्योंकि वह हमारे सामने उसे दूरदर्शी दृष्टि के रूप में उपस्थित नहीं करती और उस दशा में दूसरों के हित को देख पाना अधिक आसान होता है, ख़ासतौर से तब जब कि उसकी हमारे अपने हित से टक्कर नहीं होती।

वास्तविक नैतिक प्रश्न यह है कि मनुष्य के कैसे व्यक्तित्व या चरित्र का निर्माण और विकास हो रहा है। और यह प्रश्न व्यक्ति के अपने और साथ ही दूसरों के भी व्यक्तित्वों के सम्बन्ध में उठता है। दूसरों के कल्याण की अत्यधिक भावुकतापूर्ण चिन्ता, जिसे अत्युत्साहपूर्ण विचार ने असन्तुलित कर दिया है, दूसरों के लिए वास्तव में हानिकर हो सकती है। बच्चों के प्रति अनियन्त्रित 'दयालुता' से प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है उससे वे बिगड़ जाते हैं।

वयस्क भी बहुत सेवा-शुश्रूषा से हमेशा के लिए मरीज़ बन जाते हैं। लोगों के साथ जब बहुत अधिक लिहाज़ किया जाता है तब वे दूसरों से अयुक्तियुक्त माँगें करने लगते हैं और जब वे पूरी नहीं होतीं तो वे पीड़ित और अपमानित अनुभव करते हैं। दयावश दिया गया दान लोगों को समाज पर आश्रित बना देता है। इसी प्रकार की और भी बातें हो सकती हैं। मुख्य विचारणीय चीज़ **परिणामों** की अच्छाई या बुराई है और इन परिणामों का सम्बन्ध चाहे **मेरे साथ** हो और चाहे **आपके साथ** वे हमेशा एक ही जैसे होंगे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति कैसे लक्ष्य को चाहता और चुनता है। ये उद्देश्य आपमें निहित हैं या मुझमें, इससे उनके नैतिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि कार्य सिर्फ इसलिए स्वार्थपूर्ण होता है, क्योंकि वह एक रुचि को प्रकट करता है, और हर रुचि में एक स्व अन्तर्निहित होता है। इस कथन की परीक्षा करने पर इस उक्ति की पुष्टि होती है कि हर चीज़ इस बात पर निर्भर है कि किसी काम में **किस प्रकार का** स्व अन्तर्निहित है। यह एक मानी हुई बात है कि हर काम का उदय एक व्यक्तित्व या स्व से होता है और वह उसी को प्रभावित करता है, क्योंकि **रुचि** स्व को व्यक्त करती है। जिस काम में कोई व्यक्ति रुचि लेता है, वह उसके व्यक्तित्व का अंग है, चाहे वह डाक-टिकटों या चित्रों का संग्रह हो, चाहे पैसा या मित्र अर्जित करना हो, चाहे पहले ही रात थियेटर देखना या बिजली सम्बन्धी घटनाओं का अध्ययन करना अथवा कुछ और हो। चाहे मनुष्य अपने मित्रों की सहायता कर और चाहे हर क़ीमत पर अपने प्रतिस्पर्धियों को हराकर सन्तोष अनुभव करता हो, व्यक्ति के स्व की रुचि उसमें अवश्य अन्तर्निहित होती है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि ऐसी अवस्था में सभी काम समान रूप से 'स्वार्थपूर्ण' हैं, बेहूदा है। कारण हर मामले में 'स्व' का एक ही अर्थ नहीं होता, क्योंकि हर मामले में स्व अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित होने पर भी हर स्व के मूल्य अलग-अलग होते हैं। स्व या व्यक्ति जैसी वस्तु की कामना और प्राप्ति का प्रयत्न करता है, उससे उसका स्वरूप और उसके मूल्य बदल जाते हैं। यह परिवर्तन उन वस्तुओं की विभिन्नता के कारण होता है, जिनमें वह सक्रिय रुचि लेता है।

स्व और उसके कार्य का एकत्व, जो नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त का मध्यबिन्दु है, दो दिशाओं में सक्रिय होता है। यह एकत्व कार्य की किस्म और मूल्य के साथ-साथ व्यक्तित्व या स्व की किस्म और मूल्य पर भी लागू होता है। यह कल्पना करना बेहूदा है कि अच्छे और बुरे व्यक्ति का अन्तर इस कारण है कि अच्छा आदमी अपने काम में व्यक्तिगत आसक्ति नहीं रखता, और बुरा आदमी उसमें व्यक्तिरत आसक्ति रखता है। दोनों में अन्तर का कारण उनकी रुचियों के **स्वरूप** और **गुणावगण** हैं। कारण, रुचि का स्वरूप उस वस्तु के स्वरूप पर निर्भर

है, जो उसे पैदा करती है और जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है। उस वस्तु के स्वरूप के अनुसार ही रुचि भी तुच्छ या महत्त्वपूर्ण, संकीर्ण या उदार, अस्थायी या स्थायी, व्यापक या एकदेशीय होती है। जब हम यह मानकर चलते हैं कि व्यक्ति क्योंकि कोई भी काम उसकी पूर्ति में रुचि लेकर करता है और वह पूर्ति एक सन्तोष और सुख प्रदान करती है, इसलिए वह हमेशा स्वार्थभावना से ही काम करता है, तब हमारा तर्क दोषपूर्ण होता है। इसका कारण यह होता है कि हम इस तर्क में व्यक्ति के स्व और उसके उद्देश्य को अलग-अलग मान लेते हैं। यदि ये दोनों अलग-अलग होते तो तथाकथित उद्देश्य **केवल** व्यक्ति को कुछ लाभ या फ़ायदा पहुँचाने के साधनमात्र होते। व्यवहार में ऐसा होता भी है। उदाहरण के लिए यह हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने मित्रों को सिर्फ अपने पेशे में अपनी निज की उन्नति के सहायक साधन के रूप में इस्तेमाल करे। किन्तु ऐसे मामले में वह उनमें मित्रों के रूप में या मानवों के रूप में रुचि **नहीं** लेता। वह इस बात में दिलचस्पी लेता है कि वह उनसे क्या लाभ उठा सकता है। उन्हें मित्र कहकर तो वह धोखा देता है। संक्षेप में, किसी काम की स्वार्थमयता और अस्वार्थमयता का समूचा अन्तर इस बात में है कि व्यक्ति का स्व किस प्रकार की वस्तु में रुचि लेता है। निःस्वार्थ काम का अर्थ **रुचिहीन** काम नहीं है। जब काम रुचिहीन होता है तब वह सहानुभूति रहित, नीरस, बँधा-बँधाया बेजान काम होता है, जिससे व्यक्ति को आसानी से निरुत्साहित किया जा सकता है। 'निःस्वार्थ' का एकमात्र बुद्धिगम्य अर्थ यह है कि उसमें मनुष्य बौद्धिक दृष्टि से न्यायपूर्ण, निष्पक्ष और समत्वयुक्त रुचि लेता है; चाहे उसका असर उसके अपने कल्याण पर पड़ता हो या किसी और के, दोनों दशाओं में वह उसका मूल्य समान समझता है।

अभी तक हम ऐसे मामलों पर विचार करते रहे हैं, जिनमें कार्य व्यक्ति के स्व को अभिव्यक्त करता है और उसका निर्माण करता है। इनमें से कुछ मामलों में स्व का विचार इच्छा की चयन और कार्य में परिणति को प्रभावित करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अमुक कार्य कर्ता के आत्म-सम्मान को अभिव्यक्त करता है, या अमुक कार्य यह प्रकट करता है कि उसके कर्ता में लज्जा और शर्म नहीं है। आत्म-सम्मान, आत्म-गौरव, लज्जा आदि शब्दों को चरित्र के अनुमोदन में इस्तेमाल करना यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि कर्त्तव्य का निश्चय करने में स्व के विचार को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि व्यक्ति का चरित्र ख़राब ही है। किन्तु जब हम किसी कार्य के साथ अहंकार या मिथ्या अभिमान को जोड़ते हैं तब हम उस कार्य की निन्दा करते हैं। इसका निष्कर्ष स्पष्टतः यह है कि महत्त्वपूर्ण बात स्व का विचार नहीं है, बल्कि यह है कि **किस प्रकार के स्व** का विचार किया जाता है, और किस रूप में

तथा किस प्रयोजन के लिए। यही नहीं, आत्म-सम्मान भी कुछ हद तक अनेकार्थक शब्द है। उसका अर्थ व्यक्तित्व में अन्तर्निहित गरिमा की भावना हो सकता है जो व्यक्ति को ऐसे कामों से रोकती है जिससे उस गरिमा के विकृत होने का भय हो। उसका अर्थ किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत स्थिति का आदर या समाज में उसकी ख्याति भी हो सकता है। इसके अलावा उसका एक अर्थ व्यक्ति का अपने खानदानी नाम के प्रति मोह या अपनी पहले की किसी व्यक्तिगत उपलब्धि का, जिसे वह अपने लिए आदर्श बनाना चाहता है, गर्व भी हो सकता है। इन बाद के अर्थों में, आत्म-सम्मान बुद्धिमत्ता के साथ कार्य का चयन करने में मनुष्य को निश्चित सहारे या संरक्षण का काम भी दे सकता और दिखावटी और खोखला ढोंग भी सिद्ध हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर नहीं है कि किसी भावना का नाम क्या है, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि किसी विशिष्ट मामले में उसका अर्थ क्या है। इस बारे में मोटा उसूल सिर्फ यही निर्धारित किया जा सकता है कि समानता और इन्साफ का सिद्धान्त प्रमुख होना चाहिए। 'सच्चे' और 'झूठे' गर्व के बीच विभाजक रेखा वह होगी जिससे हम यह जान सकें कि व्यक्ति ने अन्य लोगों के मुकाबले में अपने स्व के विचार को कितना समान या असमान स्थान दिया। इस प्रकार यह प्रश्न बौद्धिक वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता का है। अभिमान और घमण्ड आदि के बारे में कठिनाई यह है कि वे मनुष्य के विवेक और निर्णय को ढँक देते हैं। किन्तु नम्रता और विनय भी उतने ही बुरे सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि वे भी विवेक के सन्तुलन और न्याय्यता को ढँक देते हैं।

आत्महित के ख़याल की भाँति परहित के ख़याल के भी दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि व्यक्ति का कार्य दूसरों के श्रेयस् को समुन्नत करता है और दूसरा अर्थ यह कि व्यक्ति चेतन भाव से अपने लिए जो उद्देश्य निर्धारित करता है उसमें दूसरों के हित का ख़याल एक निर्धारक तत्त्व के रूप में विद्यमान होता है। सामान्यतः चेतन स्तर पर भी आचरण का निर्णय परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर किया जाता है, उसमें दूसरों का या अपना कोई ख़याल ख़ास-तौर से नहीं किया जाता। विद्वान्, कलाकार, चिकित्सक या इंजीनियर अपना अधिकतर काम अपने-आपसे यह प्रश्न किए बिना करता है कि क्या उसका काम उसे या किसी और को लाभ पहुँचाएगा। वह केवल काम में ही दिलचस्पी लेता है। इस प्रकार की वस्तुनिष्ठ दिलचस्पी मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य की एक शर्त है। किसी व्यक्ति की इससे अधिक अस्वस्थ स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती कि वह हर काम को सोच-विचार कर दूसरे के कल्याण के लिए ही करे। जब कोई व्यापारी यह कहता है कि वह हर चीज़ ग्राहक की भलाई के लिए ही बेचता है तब हमें उस पर ढोंग का सन्देह होने लगता है।

फिर भी कुछ अवसर ऐसे होते हैं कि जबकि दूसरों के कल्याण को **चेतन** भाव से सोचना आवश्यक हो जाता है। प्रथम दृष्टि में यह बात कुछ विचित्र-सी भले ही लगे, परन्तु वास्तविकता यही है कि चेतन रूप से परहित पर विचार करने की उस समय ख़ासतौर से आवश्यकता होती है जबकि व्यक्ति का तात्कालिक आवेग सहानुभूतिपूर्ण होता है। जो व्यक्ति समाजद्रोही कामों का अपराधी होता है उसके विरुद्ध रोष की एक तीव्र भावना होती है और यह विचार मन में आता है कि उसे प्रतिशोधात्मक दंड देना अवश्य ही समाज के हित में है। किन्तु वास्तव में हित-साधन हुआ या नहीं, इसकी कसौटी तो परिणाम ही हैं और इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि अधिकतर दंड जो समाज के हितकारी समझे जाते हैं, दंडित व्यक्ति में सर्वसामान्य कल्याण के प्रति एक निष्ठुर उदासीनता का भाव पैदा करते हैं, बल्कि उसमें यह इच्छा भी पैदा करते हैं कि सामाजिक रूढ़ियों की अवज्ञा कर वह समाज से बदला ले ले। सहानुभूति की भावना सामान्यतः एक सामाजिक प्रेरक शक्ति मानी जाती है, किन्तु जो व्यक्ति चेतन रूप से इस भावना को अपने भीतर विकसित करता है वह यदि परिणामों को सोचे तो यह देखेगा कि वह दूसरों के चरित्र को कमज़ोर बना रहा है और यद्यपि बाहर से यह उनकी मदद करता है तो भी बुनियादी तौर पर वह उनको नुकसान पहुँचाता है।

किन्तु इस प्रकार के कथनों का अभिप्राय यह नहीं है कि न्याय या दया की भावनाओं का मनुष्य को दमन करना चाहिए। किन्तु जो व्यक्ति बिना विचारे अपने मन के मुताबिक चीज़ को ले लेता है, उससे जब नैतिक परिवर्त्तन होता है तो उसका मतलब यह होता है कि उसकी रुचि का विस्तार हो गया है और अब वह वस्तुओं के अधिक व्यापक क्षेत्र पर विचार करता है। यही बात इसके ठीक विपरीत आवेगों के सम्बन्ध में भी है। तात्कालिक भावना को रुचि में परिणत करना आसान नहीं है, क्योंकि उसके लिए अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म सम्बन्धों और परिणामों को समझना आवश्यक है। किन्तु यदि भावना का, चाहे वह स्वार्थपूर्ण हो और चाहे परहितकारी, इस प्रकार विस्तार न किया जाए तो विमर्शात्मक नैतिकता सर्वथा असंभव होगी। बिना सोचे-विचारे किसी दयापूर्ण भावना के वशीभूत हो जाना आसान है; कुछ लोगों के लिए उसका दमन करना भी आसान है; किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस भावना को क़ायम रखा जाए और साथ ही उस पर विचार-विमर्श करके उसके आधार पर काम किया जाए। मनुष्य के अच्छे आचरण की सबसे अधिक सम्भावना उस समय होती है जबकि परहिताकांक्षा की भावना और बुद्धियुक्त विचार-विमर्श दोनों का संयोग उसकी रुचि का विषय होता है। किन्तु इस संयोग में विचारपूर्ण अध्ययन और अनुसंधान भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं जितनी कि सहानुभूतिपूर्ण अनुराग।

4. **सामाजिक हित का व्यापक स्वरूप**

उपर्युक्त विवेचन यह सिद्ध करता है कि न तो स्वहित भावना, न परहित भावना और न दोनों का मिश्रण ही सन्तोषजनक सिद्धान्त हो सकते हैं। व्यक्ति का स्व कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं के साथ सम्बन्ध और सम्पर्क से बिलकुल अलग रहती हो। इस सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के हित और रुचियाँ बन जाने के कारण जो सम्बन्ध पैदा होते हैं वे अलग-अलग व्यक्तियों के परस्पर समायोजन से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। स्वार्थपरता और परार्थसाधन के पारस्परिक समायोजन की समस्या पर सिद्धान्त का अधिकतर बल उस समय दिया गया जबकि विचार निश्चित रूप से वैयक्तिक होता था। सिद्धान्त का निर्माण व्यक्तियों को स्वभावत: एक-दूसरे से अलग-अलग मानकर किया गया था और सामाजिक व्यवस्थाओं को गौण और कृत्रिम माना गया था। ऐसी बौद्धिक परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि नैतिकता का सिद्धान्त स्वार्थ-पूर्ण और परार्थपूर्ण अभिप्रेरणों में से किसी एक के चयन के प्रश्न में उलझा रहे। उस समय प्रचलित व्यक्तिवाद एक ऐसे आर्थिक सिद्धान्त और व्यवहार में अभि-व्यक्त होता था जिसकी धारणा यह थी कि हर व्यक्ति विशुद्ध रूप से अपने ही लाभ से प्रेरित होकर काम करता है, इसलिए आचारशास्त्र वेत्ताओं ने इस निर्मम व्यक्तिवाद पर अंकुश लगाने की आवश्यकता पर बल दिया और नैतिकता में (व्यापार में नहीं) सहानुभूति और दूसरों के हित की आकांक्षा को सर्वोपरि बताया। किन्तु उनके इस आग्रह का असली महत्त्व इस बात में है कि हम यह महसूस कर लें कि अपना या दूसरों का ख़याल, दोनों ही एक अधिक स्वाभाविक और अधिक पूर्ण हित के गौण पहलू हैं। यह हित है उन सामाजिक वर्गों का कल्याण और रक्षा जिनके हम अंग हैं।

उदाहरण के लिए परिवार एक व्यक्ति नहीं है, बल्कि उसके सब सदस्यों का समूह है। यह साहचर्य का ऐसा स्थायी रूप है जिसमें कि समूह के सदस्य प्रारम्भ से ही एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध-से रहते हैं और जिसका हर सदस्य स्वार्थ और परार्थ के समायोजन के बजाय सारे समूह और उसमें अपने स्थान को दृष्टि में रखकर अपने आचरण के लिए दिशा निर्धारित करता है। व्यापारियों और एक पेशे के लोगों की संस्थाओं और राजनीतिक संगठनों में भी यही बात दिखाई पड़ती है। नैतिक दृष्टि से देखा जाए तो किसी उद्योग के अच्छा-बुरा होने की कसौटी यह है कि क्या वह समाज की समग्र रूप से सेवा करता है? क्या वह उसकी आवश्यकताओं को प्रभावकारी और समुचित रीति से पूरा करता है, और साथ ही क्या वह उसमें लगे हुए व्यक्तियों को रोजगार और व्यक्तिगत विकास के साधन प्रदान करता है? किन्तु यदि व्यवसायी (क) केवल अपने ही हित साधन की बात सोचे; या (ख) दूसरों के प्रति केवल परोपकार की ही भावना रखे; या (ग) दोनों में किसी

तरह का समन्वय करने का प्रयत्न करें तो वह इस लक्ष्य पर शायद ही पहुँच सकेगा। न्यायपूर्ण ढंग से संगठित समाज व्यवस्था में व्यक्तियों में परस्पर जो सम्बन्ध होते हैं, उनका व्यवसाय चलाने वाले व्यक्ति से स्वभावतः यह तकाज़ा होता है कि वह अपने कार्य से दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करे; साथ ही दूसरे लोग भी उसे अपने व्यक्तित्व की सब समताओं को अभिव्यक्त और सार्थक करने में योग देते हैं। दूसरे शब्दों में सेवाएँ व्यवहार और परिणाम में पारस्परिक और सहकार-पूर्ण होंगी। हम ऐसे चिकित्सक पर भरोसा करते हैं जो अपने पेशे के सामाजिक महत्त्व को अनुभव करता है और जिसमें ज्ञान और निपुणता दोनों हैं; हम ऐसे चिकित्सक पर भरोसा नहीं करते जो केवल व्यक्तिगत अनुराग से अनुप्राणित हो, फिर चाहे उसका परहित साधन का उत्साह कितना ही अधिक क्यों न हो। एक संगठित समाज के नागरिकों की राजनीतिक कार्रवाई तब तक नैतिक दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं हो सकती, जब तक कि व्यक्तिशः उनका स्वभाव सहानुभूतिपूर्ण न हो। किन्तु इस सहानुभूति का मूल्य व्यक्ति के आचरण को सीधा निर्देशित नहीं करता। किसी भी जटिल राजनीतिक समस्या की कल्पना कीजिए; तब आप यह अनुभव करेंगे कि अविचारित परहिताकांक्षा आपको बहुत दूर तक नहीं ले जाती। उसका भी एक मूल्य है, किन्तु वह मूल्य उसकी वह शक्ति है जिससे वह हमें नीतियों के निर्धारण और अमल में अन्तर्निहित समस्त सामाजिक बन्धनों को मोटे तौर पर निभाने के लिए प्रेरित करती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्म-हित या परहित मनुष्य के बाहरी तौर पर स्पष्ट कार्यों में सीधे प्रेरक प्रयोजन नहीं होते। वे सिर्फ ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे प्रेरित होकर हम उन वस्तुओं और परिणामों पर **विचार करते हैं**, जो उन शक्तियों के अभाव में हमारे ध्यान से चूक जाते। फिर ये वस्तुएँ और परिणाम मिलकर 'रुचि' बनते हैं और वह रुचि ही कार्य का सही अभिप्रेरक होती है। इन वस्तुओं और परिणामों में वे सम्बन्ध अन्तर्निहित होते हैं जिन्हें मनुष्य मूर्त्त और ठोस मामलों में एक-दूसरे के साथ क़ायम करते हैं।

जब व्यक्ति समग्र समाज में, जिसका वह सदस्य है, रुचि लेता है तब वह स्वतः अपने-आपमें भी रुचि लेता ही है। समूह के हर सदस्य की एक अपनी जगह और अपना काम होता है और यह सोचना कि यह बात दूसरों के बारे में तो सही है, सिर्फ व्यक्ति के अपने बारे में सही नहीं है, बेहूदा है। यह सोचना कि व्यक्ति का अपने निज के स्वास्थ्य, ज्ञानोपार्जन, उन्नति और विवेक शक्ति के बारे में सोचना सामाजिक हित के साथ संगत नहीं है, निरी मूर्खता है। हम में से हरेक व्यक्ति एक समूह का सदस्य है और समाज का अपने घटक सदस्यों के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता, इसलिए समाज का प्रभावकारी हित तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि हम अपने कल्याण और विकास का भी बुद्धिमत्तापूर्वक ध्यान

न रखें। वास्तव में अपनी निज की शक्ति और उन्नति के लिए स्वयं व्यक्ति पर ही मुख्य ज़िम्मेदारी है। जिस समाज में हर व्यक्ति अपने पड़ोसी के मामलों में पड़ने के कारण अपने निज के हित की उपेक्षा कर देता है, सामाजिक दृष्टि से उससे अधिक पिछड़े और प्रभावहीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जब व्यक्ति के स्व या व्यक्तित्व को उसके सही रूप में ग्रहण किया जाता है, उसे सर्वथा पृथक् न मानकर दूसरों के साथ सम्बन्धों में बँधा हुआ माना जाता है तब विवेक की स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि, सत्यनिष्ठा और अभिक्रम सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य प्रकर्ष बन जाते हैं।

आमतौर पर समाज में दान-दाक्षिण्य की ऐसी अवधारणाएँ प्रचलित रहती हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सामाजिक सम्बन्धों के निष्पक्ष विचार को पृष्ठभूमि में फेंक दिया जाए तो उससे बहुत हानि होगी। विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को सहायता देना, किसी सर्वसामान्य संकट में पड़े बहुसंख्यक लोगों की मदद करना एक ऐसी स्वाभाविक चीज़ है कि उसे सद्गुण कहकर उसकी प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो नैतिक सिद्धान्त पात्र-अपात्र का ख़याल किये बिना दान-मात्र को ही एक महान् गुण के रूप में महिमा मंडित करता है, वह ऊँची-नीची श्रेणियों के क्रम में बँटे हुए सामन्ती समाज का, अर्थात् एक रोगी समाज-व्यवस्था का, जिसमें एक उच्च वर्ग निम्न वर्ग को कृपापूर्वक दान आदि देकर यश अर्जित करता है, अवशेष है। दान-दाक्षिण्य की इस अवधारणा के सम्बन्ध में आपत्ति यह है कि उसकी आड़ में उन क़ानूनों और सामाजिक व्यवसाओं को क़ायम रखने की कोशिश की जाती है, जिन्हें न्याय और इन्साफ की ख़ातिर बदल दिया जाना चाहिए। 'दान' देकर दूसरे की सामाजिक चेतना को कुण्ठित किया जा सकता है और सामाजिक अन्याय से पीड़ित व्यक्तियों में बढ़ने वाले रोष और असन्तोष को खरीदा भी जा सकता है। क्रूर आर्थिक शोषण पर पर्दा डालने के लिए भी शानदार परोपकार का उपयोग किया जा सकता है। वर्त्तमान संस्थाओं और स्थिति को अधिक सह्य बनाने और सामाजिक परिवर्त्तनों को रोकने के लिए पुस्तकालय, अस्पताल, मिशन, स्कूल आदि के उपहारों का उपयोग किया जा सकता है।

इसके अलावा समझ-बूझकर किया गया परोपकार दूसरों को पराश्रित बनाये रखने और उनके मामलों को स्वयं संभालने के लिए भी साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। उदाहरण के लिए, जो माता-पिता इस बात की ओर समुचित ध्यान नहीं देते कि उनके बच्चे अब बड़े हो गए हैं, वे उनके मामलों में अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप करते रहते हैं और दयालुतापूर्ण पितृ-वात्सल्य के नाम पर उसका औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। बच्चों की असहाय अवस्था में माता-पिता में उनकी सहायता की जो आदत पड़ जाती है, उसे वे उस समय भी

जारी रखते हैं जब कि बच्चों को स्वावलम्बी बनने की अकांक्षा और आवश्यकता होती है। वे अपने आचरण पर गर्व करते हैं जब कि वास्तव में वह या तो उनके बच्चों को एकदम उन पर आश्रित गुलाम बना देता है या उनमें तीव्र रोष और विद्रोह पैदा करता है। सामाजिक स्थिति की वास्तविकताओं के साथ बँधे हुए व्यक्तिगत हित और सर्वथा अमूर्त परार्थवाद के बीच अन्तर को स्पष्ट करने का इससे अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि माता-पिता को अपने बच्चों के हित के प्रति उदासीन हो जाना चाहिए, बल्कि निष्कर्ष यह है कि यदि हम बुद्धिमत्ता और समझदारी से उनके हित पर विचार करें तो हमें उनके वयस्क और परिपक्व होने के साथ-साथ उनके लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए। अगर हमें यह अनुभव हो कि उनके कल्याण के लिए हमें भिन्न प्रकार का बरताव करना चाहिए तो हमें अपनी अब तक की बद्धमूल आदतों को बदल लेना चाहिए। यदि हम इस शिक्षा को अधिक सामान्य रूप प्रदान करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि दान और परोपकार नैतिकता के आनुषंगिक पहलू हैं, जिनकी आवश्यकता कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में पड़ती है; वे उसके आवश्यक और तात्त्विक मूल सिद्धान्त नहीं हैं। यह बात हमें मानवीय सम्बन्धों की मूर्त वास्तविकताओं के बारे में निरन्तर विस्तीर्यमाण और परिवर्त्तमान धारणा में भी दृष्टिगोचर होती है।

एक प्रकार का नैतिक सिद्धान्त यह मानता है कि आत्म-पूर्ण (अपने स्व या व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करना) ही आचारशास्त्र का आदर्श है। यह धारणा अस्पष्ट और सन्दिग्धार्थक है और उससे यह भी प्रकट हो जाएगा कि इससे पूर्व स्व (आत्मा) या व्यक्तित्त्व के बारे में जो कुछ कहा गया है वह सही है। आत्म-पूर्ण इस अर्थ में तो उद्देश्य हो सकता है कि वह सही काम का परिणाम और सीमा हो, किन्तु वह ऐसा आदर्श लक्ष्य भी हो, **जिसकी ओर हमें जाना है,** यह आवश्यक नहीं है। दूसरों के साथ सम्बन्धों को दृष्टि में रखकर उन्हें निभाते हुए किए जाने वाले कार्य से **जिस प्रकार के** स्व का निर्माण होता है, वह उससे अधिक पूर्ण और अधिक व्यापक स्व या व्यक्तित्व होगा जो दूसरों के प्रयोजनों और आवश्यकताओं से बिलकुल अलग-अलग या उनके विरोध में खड़ा होकर विकसित होता है। अगर दोनों प्रकार के स्व या व्यक्तित्वों की तुलना की जाए तो यह कहा जा सकता है कि अधिक उदार और व्यापक रुचि से जो स्व विकसित होता है वही स्व का पूर्ण और विकसित रूप है; इससे भिन्न प्रकार का जीवन स्व को विकास के लिए आवश्यक सम्बन्धों से विच्छिन्न कर अलग कर देता है और इस प्रकार उसके विकास को अवरुद्ध कर देता है। अपने स्व को पूर्ण बनाना ही यदि व्यक्ति का चेतन उद्देश्य हो तो उससे वह उन सम्बन्धों की ओर

पूरा ध्यान नहीं दे सकेगा जो स्व का अधिक व्यापक और बृहत्तर विकास कर सकते हैं।

स्व के पूर्ण विकास के बारे में जो बात हमने कही है वही स्व की रुचि के बारे में भी लागू होती है। व्यक्ति का अन्तिम सुख इस बात में है कि उसके चरित्र में कुछ रुचियों का स्थान प्रधान हो; अर्थात् वह ऐसी वस्तुओं में सजग और गम्भीर होकर और स्थायी रूप से रुचि ले जिनमें सभी लोग हिस्सा बँटाएँ। यह अन्तिम सुख कुछ निश्चित बाह्य परिणामों की प्राप्ति में नहीं, बल्कि इस प्रकार की रुचियों में निहित है, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा सुख है, जो परिस्थितियों की दया पर निर्भर नहीं है। मनुष्य को दूसरे लोगों में और उन्हें विकास की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों में अधिकाधिक जीवन्त और सजग रुचि लेकर जो आनन्द उपलब्ध होता है उसे बाहर की बड़ी-से-बड़ी बाधाएँ भी नष्ट नहीं कर सकतीं। जिन लोगों में ये व्यापक रुचियाँ सजीव हैं (और ये रुचियाँ स्व सभी लोगों में पनपती हैं जिनके स्वभाव कुटिल और विकृत नहीं हो गए), उन्हें उनके कार्य आनन्द प्रदान करते हैं क्योंकि इन रुचियों के अनुसार कार्य करने से उनके स्व का पूर्ण विकास होता है। किन्तु व्यक्ति इन रुचियों को इसलिए पसन्द नहीं करता या अपना ध्येय नहीं बनाता कि वे अधिक आनन्द प्रदान करती हैं, बल्कि इसलिए कि वे एक ऐसे स्व की अभिव्यक्ति करती हैं, जैसा स्व बनने की बुनियादी आकांक्षा हर व्यक्ति में रहती है। ये रुचियाँ मनुष्य को एक अनूठा आनन्द प्रदान करती हैं।

इस प्रकार नैतिक जीवन में स्व के स्थान के बारे में हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नैतिकता की असली समस्या ही यह है कि मनुष्य में मूलतः जो आवेगात्मक प्रवृत्तियाँ रहती हैं, उन्हें एक स्वैच्छिक स्व में परिणत कर दिया जाए जिसकी इच्छाएँ और अनुराग सर्वसमान्य मूल्यों पर केन्द्रित हों; जो उन्हीं वस्तुओं में रुचि ले, जो सभी के जीवन को समृद्ध बना सके। यदि हम ऐसे स्व की रुचियों को ही सद्गुण और सदाचरण मानें तो हम स्पिनोजा के शब्दों में कह सकते हैं कि "आनन्द या सन्तोष सद्गुण और सदाचरण का परिणाम नहीं है, बल्कि वह स्वयं सद्गुण ही है।

### 5. उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता

स्व या व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध समस्याओं पर विचार कर अन्त में हम उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता की संकल्पनाओं पर पहुँचते हैं। उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता दोनों ही अनेक दूरगामी समस्याओं के साथ बँधे हुए हैं जिन्हें लेकर अध्यात्म धर्म और, आचारशास्त्र के क्षेत्रों में अनेक बड़े विवाद उठ चुके हैं। हम इन पर यहाँ सिर्फ उन्हीं मुद्दों की दृष्टि से विचार करेंगे जिनमें ये

संकल्पनाएँ निश्चित रूप से पहले किये गए विश्लेषण से सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि से उत्तरदायित्व के एक महत्त्वपूर्ण पहलू का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। जहाँ कि हमने व्यक्ति की नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के स्व को नैतिक महत्त्व और मूल्य से युक्त लक्षणों में रूपान्तरित करने का जिक्र किया है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं सामाजिक माँगें और सामाजिक अनुमोदन और विरोध यह परिवर्त्तन लाने में एक महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन माँगों, अनुमोदनों और विरोधों का उपयोग लोगों के रवैये में परिवर्त्तन लाने के लिए, खासकर ऐसा बौद्धिक परिवर्त्तन लाने के लिए किया जाना चाहिए, जिससे वे अपने कामों के उन सम्बन्धों और अर्थों को भी समझ सकें, जो अब तक नहीं समझे गए। उत्तरदायित्व की धारणा को ही लीजिए। उसके सम्बन्ध में सबसे अधिक आमफहम ग़लती यह है कि लोग अनुमोदन और निन्दा का प्रभाव व्यक्ति के भावी कार्य पर ही नहीं, उसके विगत कार्यों पर भी मानते हैं। उत्तरदायित्व की संकल्पना में दो चीज़ें मुख्य हैं। पहली यह कि व्यक्ति के चरित्र में एक वांछनीय **परिवर्तन** हो सकता है और दूसरी यह कि उस सम्भावना को साकार करने के लिए मनुष्य सही मार्ग का चयन करे। उदाहरण के लिए बच्चा अपने किये हुए काम के लिए जिम्मेदार समझा जाता है, परन्तु इसलिए नहीं कि उसने यह काम जानबूझकर किया है बल्कि इसलिए कि **भविष्य में** उस काम को करते हुए वह उन प्रभावों और परिणामों को ध्यान में रखे जिन्हें उसने **पहली बार** ध्यान मेंनहीं रखा था। मानवीय कर्त्ता पत्थर या किसी अन्य जड़ वस्तु से, बल्कि निम्न श्रेणी के प्राणियों से इसी बात में भिन्न है।

यदि कोई पत्थर पहाड़ी पर से लुढ़क पड़े और किसी व्यक्ति को घायल कर दे या कोई पेड़ गिर जाए और किसी राहगीर को कुचल दे तो उन्हें उसके लिए उत्तरदायी ठहराना बेहूदा होगा। कारण, उन्हें उत्तरदायी ठहराने से भी पत्थर या पेड़ के भावी व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ेगा। वे अपने चारों ओर की परिस्थितियों के साथ कोई ऐसी पारस्परिक क्रिया नहीं करते, जिससे कि वे उनसे कुछ सीख सकें और अपने रवैये और प्रवृत्ति में परिवर्त्तन कर सकें। मनुष्य को उसके काम के लिए उत्तरदायी इसलिए ठहराया जाता है ताकि वह उससे सीख सके, और केवल सैद्धान्तिक और इल्मी तौर पर ही नहीं, बल्कि इस ढंग से भी सीखे जिसके कि वह अपने पिछले चरित्र को कुछ हद तक सुधार सके। यह प्रश्न बिलकुल असंगत है कि जिस समय उसने वह काम किया उस समय क्या उसके लिए उससे भिन्न काम करना सम्भव था। असली प्रश्न यह है कि क्या अगली दफ़ा व उससे भिन्न रीति से काम कर सकता है। मानवीय चरित्रमें परिवर्त्तन लाने के क्रियात्मक महत्त्व के कारण ही उत्तरदायित्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बनता है। शिशु, मूढ़ और पागल अपने कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराए जाते, क्योंकि उनमें

सीखने और अपने-आपमें सुधार करने की क्षमता नहीं है। किन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति की सीखने की क्षमता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है। इस तथ्य का, कि किसी व्यक्ति ने जान-बूझकर दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाई या पीड़ा पहुँचाने वाला वह काम करने का उसका इरादा नहीं था, कोई महत्त्व नहीं है। इससे सिर्फ इतना ही हो सकता है कि उस आदमी को यह मालूम हो जाए कि उसके काम पर दूसरों की क्या अनुक्रिया होती है और उससे वह भविष्य में वैसी ही परिस्थितियों में काम करते हुए पहले से विचार कर लिया करे। हर काम जब आदत का रूप धारण कर लेता है तब वह मनुष्य में एक ऐसे चरित्र का **निर्माण** कर देता है, जो उसी तरह के काम भविष्य में भी करेगा। यह तथ्य ही सैद्धान्तिक और क्रियात्मक दोनों रूपों में उत्तरदायित्व की बुनियाद है। हम अतीत को तो मिटा नहीं सकते, किन्तु भविष्य को प्रभावित कर सकते हैं।

इसलिए दूसरों के आचरण के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रियाओं को काबू में रखने के बारे में हमारी ज़िम्मेदारी दोहरी है। जो व्यक्ति किसी की प्रशंसा या निन्दा करते हैं या किसी को पुरस्कार या दण्ड देते हैं, उन पर यह ज़िम्मेदारी है कि वे उसके लिए ऐसा तरीका चुनें जिससे दूसरों के भावी रुख और आचरण को एक वांछनीय तरीके से बदलने की अधिकतम संभावना हो। प्रतिशोधात्मक न्याय का ऐसा कोई अन्तर्निहित सिद्धान्त नहीं है जो पुरस्कार या दण्ड के उपयोग को हर मामले में उनके परिणामों से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र रूप में उचित सिद्ध करता हो। जब दण्ड से क्रूरता, विद्रोह या दण्ड से बचने की चतुराइयाँ आदि पैदा होती हों तब इस प्रकार के सिद्धान्त की दुहाई देना, उत्तरदायित्व को अस्वीकार करने का ही एक तरीका है। गहराई से विचार करने पर मालूम होगा कि सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम व्यक्ति के रवैये में परिवर्तन होता है—अर्थात् उसकी अच्छी आदत अधिक बद्धमूल हो जाती है और उसकी बुरी प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है।

उत्तरदायित्व सम्बन्धी सिद्धान्तों में ग़लती तब होती है जब उसका आधार किसी व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराए जाने से **पहले** की परिस्थितियों को बनाया जाता है, क्योंकि उचित यह है कि उसका आधार उसे उत्तरदायी ठहराने के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों को बनाया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति को उत्तरदायी इसलिए ठहाराया जाता है ताकि वह उत्तरदायी **बन** सके अर्थात् दूसरों की आवश्यकताओं और दावों और अपनी स्थिति में अन्तर्निहित कर्त्तव्यों का ख़याल रखे। जो लोग दूसरों को उनके कामों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं उन पर स्वयं यह ज़िम्मेदारी है कि वे उन्हें इस ढंग से उत्तरदायी ठहराएँ जिससे उनमें दूसरों के हितों और अपने कर्त्तव्यों का ख़याल रखने की यह भावना पैदा हो। यदि वे ऐसा नहीं करते तो वे स्वयं उत्तरदायित्वहीन हैं। इस सम्बन्ध में आदर्श स्थिति यह होगी कि हर व्यक्ति अपने सब कामों में इस उत्तरदायित्व को समझे। किन्तु जब तक व्यक्ति के सामने

नई-नई परिस्थितियाँ आती रहती हैं तब तक यह आदर्श स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। कारण, जब परिस्थितियाँ निश्चित रूप से उससे भिन्न होती हैं, जैसी कि मनुष्य पहले अनुभव कर चुका होता है, तब व्यक्ति को अपने ज्ञान और रवैये के सही होने का भरोसा नहीं हो सकता। ऐसे सब उदाहरणों में दूसरों के द्वारा उत्तरदायी ठहराया जाना व्यक्ति के विकास के लिए एक संरक्षण और निदेशक शक्ति का काम देता है।

उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में ग़लत धारणाओं के कारण सैद्धान्तिक चर्चाओं में स्वतन्त्रता के विचार पर बहुत गम्भीर दुष्प्रभाव पड़ा है। जिन लोगों ने उत्तर-दायित्व के लिए किसी पूर्ववर्त्ती आधार और प्रमाण की खोज की है उन्होंने आम-तौर पर 'इच्छा की स्वतन्त्रता' को ही वह आधार और प्रमाण माना है। उनका कहना है कि इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ चयन की एक अनभिप्रेरित शक्ति है अर्थात् एक ऐसी मनमानी शक्ति जो बिना किसी तर्क के किसी वस्तु का चयन करती है और यदि उस चयन में कोई तर्क है भी तो सिर्फ यह कि इच्छा का चयन करने का तरीका ही यही है। वे लोग यह तर्क देते हैं कि किसी व्यक्ति को उसके काम के लिए उत्तरदायी ठहराने में तब तक कोई तुक नहीं है, जब तक कि यह न मान लिया जाए कि यदि वह चाहता तो इससे भिन्न तरीके से भी काम कर सकता था। इस प्रकार वे इस बात की पूर्णतः उपेक्षा कर देते हैं कि किसी व्यक्ति को उसके काम के लिए उत्तरदायी ठहराने का प्रयोजन उसके भविष्य के आचरण को सुधारना है। यदि व्यक्ति जैसा अब है उससे भिन्न प्रकार का व्यक्ति होता, तो जैसा कार्य उसने अब किया है उससे भिन्न प्रकार से करता, और उसे अपने किये हुए काम के लिए (और जैसा व्यक्ति वह था वैसा होने के लिए) उत्तरदायी ठहराने का प्रयोजन यह है कि वह भविष्य में भिन्न प्रकार का व्यक्ति बने और भिन्न प्रकार के उद्देश्यों का चुनाव करे।

दूसरे शब्दों में 'स्वतन्त्रता' अपने व्यावहारिक और नैतिक अर्थ में (किसी आध्यात्मिक अर्थ में भले ही उसके बारे में कुछ भी कहा गया हो) विकास, शिक्षा लेने की वृत्ति और चरित्र के सुधार के लिए वैसे ही ज़िम्मेदार है जैसेकि 'उत्तर-दायित्व' है। पत्थर को स्वतन्त्र न समझने का हमारे लिए मुख्य कारण यह है कि वह अपने आचरण को बदलने में, उसे नई परिस्थितियों के अनुसार ढालने में समर्थ नहीं है। जानवरों में तो हम अपने-आपको बदलने की क्षमता पाते हैं, जैसे कि कुत्ते में। वह दूसरों की देख-रेख में नई आदतें अपना लेता है। किन्तु कुत्ता इस परिवर्त्तन में निष्क्रिय रहता है, वह इस परिवर्त्तन को न तो प्रारम्भ करता है और न इसका पथ-निर्देशन; वह अपनी ओर से उसमें कोई दिलचस्पी नहीं लेता। किन्तु दूसरी ओर मानव प्राणी, चाहे वह बच्चा ही हो, न सिर्फ सीखता है, बल्कि सीखने में और नई आदतें और नई प्रवृत्तियाँ उपार्जित करने में रुचि भी ले सकता...

है। जैसे-जैसे हम बड़े और परिपक्व होते जाते हैं, वैसे-वैसे भारी ऐसी आदतें बनती जाती हैं जो एक रोज़मर्रा के जीवन का अंग बन जाती हैं। किन्तु अगर हम बिलकुल पत्थर की तरह अपरिवर्त्तनशील ही न हो गए हों तो हम पुरानी आदतों को तोड़कर नई आदतें बना सकते हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध का कोई भी तर्क इस तथ्य को, कि हम सीख सकते हैं और सीखते भी हैं, और कि सीखने का अर्थ केवल नई जानकारी पाना ही नहीं है, बल्कि पुरानी प्रवृत्तियों का पुनर्निर्माण करना भी है, बदल नहीं सकता। यह तथ्य हमारे अनुभव में निरन्तर पुष्ट होता रहता है। मनुष्य जिस हद तक भिन्न व्यक्ति या चरित्र बनता है, उस हद तक उसमें नई इच्छाएँ और नये चयन विकसित हो जाते हैं। जब व्यक्ति इस सम्भावना को जान लेता है और उसे यथार्थता में परिणत करने में रुचि लेता तब क्रियात्मक अर्थ में स्वतन्त्रता पैदा होती है। हम में वृद्धि और विकास की **क्षमता** है और हम उसकी प्रक्रिया में और उसके द्वारा अपनाई जाने वाली दिशा में सक्रिय रुचि लेते हैं, इसलिए स्वतन्त्रता की सम्भाव्यता हमारे भीतर एक प्राकृतिक देन और हमारी रचना के अंग के रूप में विद्यमान होती है। वास्तविक या सकारी (भावात्मक) स्वतन्त्रता एक स्वाभाविक देन या गुण नहीं है, बल्कि वह उपार्जित गुण है। जिस हद तक हम विकास की सम्भावनाओं को जानते हैं और विकास के मार्गों को खुला रखने के लिए सक्रिय प्रयत्न करते हैं, जिस हद तक हम दृढ़ीभाव और जड़ता के विरुद्ध संघर्ष करते हैं और उनसे अपने व्यक्तित्वों के पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं को साकार करते हैं, उस हद तक हम सचमुच स्वतन्त्र होते हैं।

यदि मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाए तब तो और बात है, अन्यथा बँधे-बँधाये, तैयार और सुनिश्चित व्यक्तित्व-जैसी कोई चीज़ नहीं है। हर जीवित व्यक्ति कार्य को जन्म देता है और जो कार्य वह करता है वह स्वयं एक नये स्व को जन्म देता है। हर स्वैच्छिक कार्य स्व का पुनर्निर्माण है, क्योंकि वह नई इच्छाएँ पैदा करता है, व्यक्ति को नई कार्य-विधियों के लिए प्रोत्साहित करता है और नईप रिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जो नये उद्देश्य स्थापित करती हैं। सतत विकास के सूत्र में हमारी निजी वैयक्तिकता पाई जाती है जो इन परि-वर्त्तनों को बाँधे रखती है। सही अर्थों में देखा जाए तो स्व के लिए स्थिर या जड़ रहना असम्भव है। वह हमेशा बदलता रहता है, चाहे अच्छाई की ओर हो और चाहे बुराई की ओर। उसकी इस **परिवर्तनशीलता** में ही गुण निहित रहते हैं। हम अपने लिए यह या वह उद्देश्य निर्धारित करते हैं, किन्तु **यह** उद्देश्य स्वयं एक विकास है। उद्देश्य को अन्तिम लक्ष्य बना देने का अर्थ है वृद्धि या विकास को रोक देना। बहुत-से व्यक्ति इस बात से निराश हो जाते हैं कि वे अपने संकल्पित लक्ष्य पर पहुँच नहीं सके, किन्तु वास्तव में कोई व्यक्ति नैतिक दृष्टि से कैसा है, इसका निर्धारण उस उद्देश्य की दिशा में उसकी गति से होता है, उस उद्देश्य की

प्राप्ति से नहीं। यदि ऐसा व्यक्ति किसी वाह्य दूरवर्ती लक्ष्य पर अपने विचार और इच्छा को केन्द्रित करने के बजाय विकास की **प्रक्रिया** को ही अपना लक्ष्य बनाय तो वह एक नई स्वतन्त्रता और नया आनन्द प्राप्त कर सकेगा। यह हमारी शक्ति के भीतर निहित दूसरा लक्ष्य है।

इसका अर्थ यह है कि हर बिन्दु पर एक पुराने और निष्पन्न स्व और एक नए और गतिमान स्व का, एक स्थितिशील स्व और एक गतिशील स्व का अन्तर विद्यमान है। इनमें से पहला स्व पहले से बनी हुई आदतों का परिणाम है। आदत का सहारा लेना हमेशा सुविधाजनक होता है। हममें यह प्रवृत्ति रहती है कि हम अपनी पतवार पर भरोसा करें, जो कुछ हम उपलब्ध कर चुके हैं, उसका आश्रय लें। कारण, वह एक आसान् रास्ता है। हम उन कामों में आराम अनुभव करते हैं जो हमारी ऐसी आदतों के अनुकूल होते हैं जो पहले से बद्धमूल हो चुकी हैं और जिन्हें हमने अच्छी तरह वशवर्त्ती कर लिया है। यही कारण है कि हम अपने पुराने और अभ्यासिक स्व को ही **असली** स्व समझते हैं; मानो नई परिस्थितियाँ और नए तकाजे उसके लिए अजनबी और विरोधी हों। नया मार्ग प्रारम्भ करने के विचार से ही हम घबरा उठते हैं; नए पथ पर पाँव रखने में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनसे हम पीछे हट जाते हैं और नए उत्तरदायित्व को लेने से कतराते हैं। हममें पुराने स्व या व्यक्तित्व को ही पसन्द करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और उसे स्थायी बनाना ही हम अपने मूल्यांकन का पैमाना और अपने आचरण का उद्देश्य मान लेते हैं। इस प्रकार हम वास्तविक परिस्थितियों और उनकी आवश्यकताओं एवं अवसरों से पीछे हट जाते हैं। हम अपने स्व को संकुचित और कठोर बना लेते हैं।

किन्तु दूसरी ओर, बढ़ता हुआ, विकासोन्मुख और मुक्त स्व नए तकाजों और नए अवसरों का मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ता है और उस प्रक्रिया में अपने-आपको नई परिस्थितियों के अनुसार ढालता और पुनर्निमित करता है। वह नई स्थितियों का, जिनकी पहले आज़मायश नहीं की गई, स्वागत करता है। पुराने स्व और नए गतिशील तथा निर्माणोन्मुख स्व की रुचियों में से किसी एक के चुनाव की आवश्यकता हमेशा पैदा होती रहती है। यह आवश्यकता सभ्यता की हर मंज़िल और जीवन के हर काल में पाई जाती है। सभ्य मानव हो या बर्बर, गन्दी बस्तियों का निवासी हो या सुसंस्कृत परिवेश में रहने वाला, अच्छा व्यक्ति हो या बुरा, सभी को उसका सामना करना पड़ता है। कारण, सभी जगह मनुष्य जो कुछ था उससे, यानी अपने-आप से, आगे बढ़ने का अवसर और आवश्यकता रहती है, बशर्ते कि अपने आपका अर्थ वे इच्छाएँ, अनुराग और आदतें हों, जो अतीत में बद्धमूल रही हैं। वास्तव में हम यह कह सकते हैं कि अच्छा आदमी वह है जो दोनों विकल्पों को खब अच्छी तरह समझता है और नये बन

रहे, नए विकसित हो रहे स्व की अभिव्यक्ति के लिए मार्ग खोजने को उत्सुक हो, क्योंकि चाहे वह कैसा भी 'अच्छा' रहा हो, यदि वह विकास की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करने में असफल रहता है (चाहे वह उपलब्धि के कितने भी ऊँचे स्तर पर पहुँच गया हो), तो वह 'बुरा' बन जाता है। स्व व्यक्तित्व के नैतिक स्तर का निर्णय करने का और कोई भी पैमाना पुराना रूढ़िगत पैमाना होगा। वास्तव में नैतिक गुण का निर्धारण व्यक्ति की गति की दिशा से होता है न कि उपलब्धि और स्थिति से।

प्रायः सभी आचारशास्त्रियों ने निम्न और उच्च व्यक्तित्वों के अन्तर को बहुत महत्त्व दिया है और वे उसे संभोगात्मक और आध्यात्मिक, जान्त्विक और सच्चे अर्थों में मानवीय, ऐन्द्रियिक और बौद्धिक स्व-युगलों के रूप में प्रकट करते हैं। ये विभिन्न प्रकार के स्व मनुष्य में साथ-साथ रहते हैं और उनका परस्पर संघर्ष चलता रहता है। आचारशास्त्रियों ने अनेक बार यह कल्पना की है कि स्व के इन दो प्रकारों के बीच में एक सार्वकालिक विभाजक रेखा खींची जा सकती है जिसका आधार उन दोनों के कुछ विशिष्ट गुण और लक्षण होंगे। किन्तु स्व के इन दो भेदों के बीच में यदि कोई अन्तर किया जा सकता है तो सिर्फ यही कि एक स्व स्थिर यानी जड़ है और दूसरा गतिशील। इसके सिवाय यदि कोई और विभाजक रेखा खींचने का प्रयत्न किया जाएगा तो उससे नैतिकता को हम रूढ़िवादिता, या अपने-आपको ही सही मानकर बेफिक्री की भावना, या अनुपलभ्य को पाने के आशाहीन और अनन्त संघर्ष में परिणत कर देंगे। जब कभी निम्न कोटि के जान्त्विक या इसी प्रकार के अन्य स्व का उल्लेख होता है तब वह किसी निश्चित सामग्री के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है। एक ऐसा स्व, जो पहले किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में सच्चे अर्थों में नैतिक स्व था, वह नई अभिवृत्तियाँ विकसित करने और अपने-आपको नये और कठिन लक्ष्यों की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता पैदा हो जाने पर ऐन्द्रियिक वासना पर और कामुक स्व बन सकता है। इसी प्रकार जिस स्व या व्यक्तित्व को हम ऊँचा कहते हैं वह ऐसा स्व होगा जो किसी अन्य नीचे स्व से एक क़दम ऊपर हो। जब वह आगे क़दम बढ़ाता है तब वह स्वतन्त्रता के एक नए अनुभव में प्रवेश करता है। यदि हम नैतिक कानून का अर्थ हर स्व को हर मौके पर दिया गया यह आदेश मानें कि वह यथासम्भव अपना नया-नया विकास करता रहे और नए-नए विकास के साथ अपने-आपको ढालता रहे तब क़ानून का पालन और नैतिक स्वतन्त्रता में ठीक सामंजस्य हो जायगा।

इस भाग में हमने जो सैद्धान्तिक चर्चा और विवेचन किया है, उसका समाहार हम उस दृष्टिकोण को व्यक्त करके करना चाहते हैं, जिससे समस्त विभिन्न समस्याओं और विचारों को हमने देखा है। कारण, यह दृष्टिकोण ही एकता

में आबद्ध करने वाला सूत्र है। यह दृष्टिकोण है—**नैतिक अवधारणाएँ और प्रक्रियाएँ स्वयं मानवीय जीवन की परिस्थितियों में से ही स्वाभाविक रूप में उद्भूत होती रहती हैं।** (1) इच्छा मानव की आन्तरिक प्रकृति से सम्बद्ध वस्तु है। हम ऐसे किसी व्यक्ति की कल्पना नहीं कर सकते, जिसकी कोई इच्छाएँ न हों, आवश्यकताएँ न हों, या जिसे उनकी पूर्ति पर सन्तोष लाभ न होता हो। जैसे ही विचार की शक्ति विकसित होती है वैसे ही मनुष्य की आवश्यकताओं का अन्धापन खत्म हो जाता है। विचार आगे की ओर देखता है और परिणाम की पहले से ही कल्पना कर लेता है। यह अपने लिए कुछ प्रयोजन, योजनाएँ, लक्ष्य और आदर्श उद्देश्य बना लेता है। मानवीय प्रकृति के इन सार्वत्रिक और अनिवार्य तथ्यों में से श्रेयस् की और चरित्र के बौद्धिक पक्ष के मूल्यों की नैतिक अवधारणाएँ विकसित होती हैं। चरित्र का यह बौद्धिक पक्ष इच्छाओं और उद्देश्यों के समस्त संघर्ष और द्वन्द्व में व्यापक और स्थायी परितुष्टि को अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है। वही ज्ञान या दूरदर्शिता है।

(2) मनुष्य स्वभावतः और अपरिहार्य रूप में समाज में मिलकर रहते हैं। वे एक-दूसरे के साथी होते हैं और परस्पर प्रतिस्पर्धा भी करते हैं, परस्पर सहयोग करते हैं और उनमें से कुछ ऊपर होते हैं और कुछ उनके मातहत। ये सम्बन्ध माँगों, दावों और आशाओं के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। एक व्यक्ति को यह विश्वास है कि उसका यह **अधिकार** है कि दूसरे उसकी माँगें पूरी करें। यही अधिकार इन दूसरों के लिए एक **उत्तरदायित्व** बन जाता है, अर्थात् जो लोग वह दावा प्रस्तुत करते हैं वह काम पूरा करने के लिए उनके प्रति वह ऋणी है। इन दावों और कर्त्तव्यों की पारस्परिक क्रिया या आन्तरिक सम्बन्ध से क़ानून, कर्त्तव्य नैतिक आप्तत्व या औचित्य की सामान्य अवधारणाएँ पैदा होती हैं।

(3) जिस प्रकार मनुष्य स्वाभाविक और अपरिहार्य रूप से अपनी अभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और अपने दावे प्रस्तुत करते हैं और दूसरों के दावों के अनुसार कार्य करते हैं, वैसे ही स्वाभाविक और अपरिहार्य रूप से वे कुछ कामों को अनुमोदित और कुछ को अननुमोदित करते हैं, कुछ के प्रति सहानुभूति और कुछ के प्रति रोष प्रकट करते हैं। इस प्रकार नैतिक श्रेयस् न वह है जो सिर्फ इच्छाओं की परितुष्टि करता है, न वह जो सिर्फ कर्त्तव्य पूरा करता है, बल्कि श्रेयस् या अच्छाई वह है जो दूसरों के द्वारा **अनुमोदन के योग्य** हो। इस प्रकार के प्रपंचों के विशाल ढेर में से सद्गुण या सदाचरण अथवा नैतिक प्रकर्ष और एक आदर्श पैमाने की अवधारणाएँ पैदा होती हैं। यह पैमाना अनुमोदन और अननुमोदन, प्रशंसा और निन्दा की अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करता है।

नैतिकता की विशिष्ट घटनाएँ सामाजिक परिस्थितियों और संस्कृति के

स्तर में परिवर्तन से समय-समय पर बदलती रहती हैं। किन्तु इच्छा, उद्देश्य, सामाजिक तकाजा और क़ानून, सहानुभूतिपूर्ण अनुमोदन और विरोधपूर्ण अनुमोदन स्थिर तथ्य हैं। जब तक मानवीय प्रकृति मानवीय प्रकृति रहेगी और मानव दूसरों के साथ मिलकर रहता रहेगा तब तक हम इन स्थिर वस्तुओं के विलुप्त और अदश्य हो जाने की कल्पना नहीं कर सकते। इसलिए नैतिकता की बुनियादी अवधारणाएँ न तो मनमानी हैं और न कृत्रिम। वे मानवीय प्रकृति पर बाहर से थोपी नहीं जातीं, बल्कि उसके अपने कार्य-संचालन और आवश्यकताओं से पैदा होती हैं। नैतिकता के कुछ ख़ास पहलू अस्थायी होते हैं; वे अक्सर अपने वास्तविक अभिव्यक्त रूप में दोषपूर्ण और विकृत होते हैं। किन्तु नैतिक अवधारणाओं का समूचा ढाँचा उतना ही स्थायी है, जितना कि स्वयं मानव जीवन।